सूची

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—मैथिल कवि विद्यापति ठक्कुर कृत कीर्तिलता [संपादक—बाबूराम सक्सेना, एम० ए०]

२—अकबरी दरबार (दूसरा भाग) [अनुवादक—रामचंद्र वर्म्मा]

३—कर्मवाद और जन्मांतर [अनुवादक—लल्लीप्रसाद पांडेय]

४—हिंदी-साहित्य का इतिहास [लेखक—रामचंद्र शुक्ल]

५—हिंदी-रसगंगाधर [लेखक—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी]

६—रसखान और घनानंद [संपादक—अमीरसिंह]

छप रही हैं

१—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग)।

२—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)।

प्रकाशन-मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

(६) विशाल भारत के इतिहास पर एक स्थूल दृष्टि

[लेखक—श्री परमात्माशरण एम० ए०, काशी]

कुछ समय पहले तक पाश्चात्य विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि प्राचीन काल में भारतवर्ष का किसी अन्य देश से संबंध नहीं था। उनका मत था कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का उत्कर्ष इसी भूमि के अंदर परिमित था और भारतीय सभ्यता तथा साम्राज्य कभी अन्य देशों में नहीं फैले। इस विश्वास का एक कारण तो यह था कि हमारे इस युग के धर्म्माधिकारियों ने समुद्र पार जाने को धर्म्म-विरुद्ध ठहरा दिया था। ऐसी अवस्था में जब पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे साहित्य का अध्ययन पहले पहल किया तब उन्होंने हिंदुओं के जात-पांत और खान-पान इत्यादि के झगड़ों को देखकर यह परिणाम निकाला कि यह देश सदैव से ऐसे ही पार्थक्य की नीति का पालन करता है, अतएव इसका किसी दूसरे देश से संबंध नहीं हो सकता था। इसी आधार पर इन विद्वानों ने यह परिणाम भी निकाला कि भारतवर्ष में विज्ञान आदि पदार्थ-विद्याओं की कोई उन्नति नहीं हुई। उनको यही जान पड़ा कि यहाँ के लोग सब से अलग कोने में बैठकर पारलौकिक विज्ञान और तत्त्वों की मानसिक इमारतें ही बनाते रहे।

"विशाल भारत" ऐतिहासिक खोज का एक नया विषय

परंतु बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही कुछ नई खोज हुई जिसके कारण उपर्युक्त सिद्धांत की जड़ें हिल गईं। सन् १९०७ ई० में एक जरमन विद्वान् पुरातत्ववेत्ता ने सीरिया देश में बोगजकुई स्थान पर एक प्राचीन लेख खोज निकाला जिसके कारण "भारतवर्ष की अद्भुत विरक्तता" (India's splendid isolation) वाला सिद्धांत बिलकुल बे-बुनियाद साबित हो गया। इस लेख से यह पता चला कि ई० पू० चौदहवीं शताब्दी में कोपेडोशिया[1] में दो युयुत्सु जातियाँ अर्थात् हिट्टाइट और मितन्नी संधि करते समय इंद्र, वरुण एवं मरुत् इत्यादि वैदिक देवताओं से शुभाकांक्षा करती और उनकी साक्षी देती हैं। इस संधि के फल स्वरूप उन दोनों जातियों के राजघरानों में एक विवाह होता है और इसमे वर वधू को आशीर्वाद देने की देवताओं से याचना की जाती है। इस प्रकार यह साबित हो गया कि भारतीय सभ्यता प्राचीन काल में केवल इसी देश के चारों कोनों मे परिमित नहीं थी वरन् उसके बाहर भी दूर दूर के देशों में फैली हुई थी। गत बीस पचीस बरसों के अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि भारतीय संस्कृति समस्त पश्चिमी और मध्य एशिया के देशों में तथा पूर्व में जावा, सुमात्रा, श्याम, कंबोडिया, बाली, इत्यादि स्थानों में फैली हुई थी।

हमारी यह संस्कृति कब कब और कहाँ कहाँ फैली और उसका क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन करने से पहले भारत के प्राचीन जीवनोद्देश पर एक स्थूल दृष्टि डालना उचित प्रतीत होता है।

---

(१) सीरिया देश के एक भाग का प्राचीन नाम।

जिस समय आर्य[1] लोग भारतवर्ष में आए, उन्हें द्रविड़ जाति का सामना करना पड़ा। आर्यों ने द्रविड़ों को नष्ट करना अपना धर्म नहीं समझा। इसके विपरीत उन्होंने द्रविड़ों को अपने में मिला लिया और दोनों के मेल से एक शक्तिशाली भारतीय जाति उत्पन्न हुई जिसने एक महती सभ्यता को जन्म दिया। इस जाति ने बड़े बड़े कार्य सिद्ध किए और संसार के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिखाया। इसी अवसर में यहाँ पर बड़े बड़े युद्ध भी हुए और इस जाति ने अपने इन अनुभवों से आदर्श शिक्षाएँ ग्रहण कीं। उसने अनुभव किया कि युद्ध में सच्ची जीत उसी की है जिसने धर्म को नहीं छोड़ा, और यह कि शांति की स्थापना ही युद्ध का सच्चा फल होना चाहिए। इसी आदर्श को लेकर महाराज अशोक ने अपने धर्म-साम्राज्य अथवा विशाल भारत की स्थापना की।

भारतीय साम्राज्य-आदर्श की अन्य सम-कालीन जातियों के आदर्श से तुलना

परंतु अशोक के समकालीन अन्य देशों के राजाओं का आदर्श उपर्युक्त आदर्श से भिन्न था। उदाहरणार्थ ई० पू० ५०० के लगभग ईरान के राजा डेरिस ने सार्वभौम राज्य स्थापित करने के अभिप्राय से मिस्र और मेसोपोटामिया के राज्यों को नष्ट किया। ईरान के इस साम्राज्यवाद की यूनान को भी चोट लगी और यूनान का प्रभाव रोम पर पड़ा। इधर

(१) प्राय: पाश्चात्य विद्वानों का एवं उनके एतद्देशीय अनुयायियों का मत है कि "आर्य्य" जाति-विशेष का नाम है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत निश्चय रूप से ठीक ही है, ऐसा कहना कठिन है।

एथेंस, स्पार्टा, इत्यादि, उधर रोम, सभी साम्राज्य-स्थापना की दौड़ में बहने लगे। अंत में सिकंदरे आजम ने समस्त पश्चिमी एशिया को अपने वश में किया। यूनान में सिकंदर ने और रोम में कैसरों ने सार्वभौम साम्राज्य के आदर्श को अंधे होकर पकड़ा। उन्होंने अपने से पहले के साम्राज्यों के इतिहास से शिक्षा न ली। वे इस बात को भूल गए कि जो राज्य पाशविक शक्ति की रेतीली बुनियाद पर खड़े होते हैं वे चिरस्थायी नहीं होते। सिकंदर के मरते ही उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। किंतु उसके उत्तराधिकारियों को भी वही नशा सवार था। उन्होंने गिरे हुए भवन को फिर से उठाने का यत्न किया। उन्होंने पड़ोसियों को नष्ट करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु अमानुषिक बल के आधार पर साम्राज्य खड़ा करने की फिर से चेष्टा की।

इसके विपरीत भारतवर्ष के सम्राट् अशोक ने इसी युग मे एक दूसरे ही प्रकार के साम्राज्य की स्थापना की। उसने संसार के सामने शांति के राज्य का एवं अपने सामने मनुष्य मात्र (संभवतः जीव मात्र) की उन्नति का आदर्श रखा। इस महान् आदर्श को लेकर उसने अपने जीवन में दो बड़े कार्य संपादित किए। कलिंग युद्ध के बाद ही उसने स्वार्थी साम्राज्यवाद का एकदम बहिष्कार कर दिया। परंतु वह इतने से ही संतुष्ट न रहा। उसने पाशविक शक्ति के स्थान पर मानुषिक तथा आत्मिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति का साम्राज्य स्थापन करने का संकल्प किया और इस संकल्प को अपने जीवन में पूरा करके दिखा दिया। इस प्रकार सम्राट् धर्माशोक का धार्मिक साम्राज्य समस्त एशिया पर स्थापित हुआ।

यह राज्य तलवार के बल से नहीं किंतु विश्व-प्रेम, सेवाभाव, आत्म-समर्पण, तथा आध्यात्मिक बल के द्वारा स्थापित किया गया। इस प्रकार भारतवर्ष के सम्राट् अपने अनोखे आदर्श को लेकर विश्व विजय करने निकले और यहीं से "विशाल भारत" की नींव पड़ी।[1]

अशोक ने भारतीय सभ्यता का कितना विस्तार किया

पहले तो अशोक ने सारे देश में धर्म अर्थात् सत्य और सौजन्य का प्रचार किया। फिर अन्य देशों को भी धर्म-ग्रंथि में ग्रथित करने के लिये देश-देशांतरों में प्रचारक भेजे, जैसे—(१) सीरिया, जहाँ उस समय एंटियोकस थियोस राज्य करता था; (२) मिस्र, जहाँ उस समय टोलेमी फिलाडेल्फस का राज्य था; (३) साइरीन, जहाँ मेगस नाम का राजा था; (४) मेसेडोनिया, जो एंटिगोनस गोनेटस के राज्य में था, इत्यादि।[2] इसके अतिरिक्त उसने अपने पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा और स्वर्णभूमि अर्थात् बर्मा में भी प्रचारक भेजे।

अशोक के इस महान् कार्य से संसार ने पहले पहल इस बात का अनुभव किया कि राजनीति और राज्यविस्तार केवल स्वार्थ के लिये ही नहीं वरन् आध्यात्मिक उद्देश से भी हो सकता है। इस प्रकार महाराज अशोक के द्वारा भारतवर्ष

---

(१) महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों से मालूम होता है कि उस समय भी इस देश का साम्राज्य भारतवर्ष के बाहर दूर दूर देशों पर रहा होगा। किंतु उसका विस्तृत विवरण विदित नहीं है।

(२) इन देशों के नाम २४७-६ पू० ई० के अशोक के शिलालेखों में दिए हुए हैं।

ने संसार की जातियों को शांति तथा सच्ची उन्नति का उपहार प्रदान किया।

अशोक की इस महान् विजय के सामने सिकंदर की सांसारिक लोलुपता से परिपूर्ण सफलता और विश्व-विजय सब तुच्छ हैं। भारतवर्ष पर तो इस विजय का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। विजेता के लौटते ही यहाँ की जनता उसके इस तुच्छ तथा घृणित काम को ऐसे भूल गई मानो वह एक स्वप्न था। इसके बाद चंद्रगुप्त ने सिकंदर के यूनानी उत्तराधिकारियों को भारत से मार भगाया। तब दोनों मे सुलह हो गई और भारत का मान इतना बढ़ा कि मेगस्थिनीज, डाईमेकस, डायोनिसियस इत्यादि राजदूत यूनान तथा मिस्र आदि देशों से मगध के दरबार में आते रहे। वे सब भारत से संबंध बराबर रखना चाहते थे। वे भारतवर्ष की सभ्यता से प्रभावित होने लग गए थे। ऐसे समय मे अशोक ने भारतीय आदर्श एवं सभ्यता का इन देशों में प्रचार किया।

सिकंदर की दिग्विजय की अशोक की दिग्विजय से तुलना

इसके कुछ काल पीछे ई० पू० दूसरी शताब्दी में फिर कतिपय यूनानी राजाओं ने भारत के कई भागों पर अधिकार जमा लिया। परंतु इस समय उनमें से कई एक हिंदू धर्म्म के अनुयायी हो चुके थे। सन् १५० (ई० पू०) के बेसनगर के स्तंभ-लेख से पता चलता है कि एक यूनानी राजा ने वैष्णव मत ग्रहण किया था। बौद्ध धर्म्म के ग्रंथ "मिलिन्द पन्हो"[१] से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन और धर्म्म का कितना

अशोक के प्रचार का प्रभाव

(१) अर्थात् "मिनांडर राजा की प्रश्नावली"।

प्रभाव यूनानी विद्वानों पर पड़ा। कला पर भी भारत का गहरा प्रभाव पड़ा जिसके फल स्वरूप "यूनानी-बौद्ध-कला" (Greeco-Buddhist Art) की उत्पत्ति हुई।

अपने इस आत्म-समर्पण तथा विश्वप्रेम के आदर्श को भारतवर्ष ने सदैव सामने रखा और पूरी तरह निबाहा।[1]

भारतवर्ष का आदर्श और उसकी सफलता

यही आदर्श इस देश के साहित्य में हर जगह हमें मिलता है। पहली और दूसरी शताब्दी ईसवी में जब मध्य एशिया की आर्य-बौद्ध जातियाँ इस देश में आईं तब उनको अपनाने में भारतीय जनता ने तनिक भी रोक टोक न की। इतना ही नहीं, किंतु उसने हीनयान, अर्थात् केवल व्यक्तिगत निर्वाण के मार्ग के अतिरिक्त महायान अर्थात् समस्त मानव समाज की शांति एवं मोक्ष प्राप्ति के मार्ग की योजना की। उस समय के सर्वोच्च पंडित अश्वघोष ने उसी सामाजिक आदर्श को फैलाया जिसकी पूर्त्ति के लिये महाराज अशोक ने जीवन भर प्रयत्न किया था। अब उसको समस्त भारतीय जनता ने अपना लिया। ईसा की पहली शताब्दी से भारतवर्ष ने अपने विश्व-प्रेम का सँदेसा फैलाना प्रारंभ कर दिया। अल्पात्मा को विश्वात्मा अथवा सूत्रात्मा के लिये समर्पण करने के इस महान् आदर्श को लेकर भारतवर्ष ने आत्मिक साम्राज्य-निर्माण के पथ का अनुसरण किया और थोड़े ही समय में आर्य संस्कृति तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, बर्म्मा, श्याम, इंडो-चायना, जावा इत्यादि इत्यादि स्थानों में फैल गई। इस प्रकार भारत की विश्व-विजय हुई और भारतीय संस्कृति का

---

(१) मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे वेद।

साम्राज्य स्थापित हुआ। इसी प्रकार की विजय तथा आदर्श का कालिदास ने भी "रघुवंश" में उल्लेख किया है, यथा—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव॥
(सर्ग ४, श्लोक ८६)

हम अपने प्राचीन इतिहास के इस भाग को बिलकुल भूल गए थे। थोड़े ही दिनों से इस क्षेत्र की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और अब इसकी खोज बड़े वेग से हो रही है। बड़े बड़े विद्वान् इसी काम में अपना जीवन लगा रहे हैं जिससे आशा होती है कि इस विषय का पूरा हाल हमको शीघ्र ही मालूम हो जायगा। इस इतिहास से आधुनिक शासकों और राजनीतिज्ञों के अंतरराष्ट्रीय संबंधों की शिक्षा ग्रहण करने की बड़ी आवश्यकता है। मानव जाति के इतिहास में यह युग एक विशेष महत्त्व रखता है। इसमे भिन्न भिन्न देशों की संस्कृतियों का एकीकरण एवं परस्पर पुष्टि-करण ऐसा हुआ जैसा आज तक कभी नहीं हुआ। बौद्ध, माजदा, टाओ, कनफ्यूशियन, क्रिश्चियन, इत्यादि अनेक मत अपने अपने तर्क और आचार विचारों को लेकर आपस मे मिल गए। वे आज की तरह लड़े नही। इसके विपरीत इस संबंध से प्रत्येक ने बड़ा भारी लाभ उठाया। उदाहरण के लिये हम बौद्धमत का ईसाई मत पर क्या और कितना प्रभाव पड़ा उसे नीचे देते हैं।

विंसेंट स्मिथ आदि इतिहासवेत्ता इस बात को मानते हैं कि ईसाई मत के प्रारंभिक निर्माण पर बौद्धमत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह बात अब सिद्ध हो गई है कि महात्मा ईसा के जन्म के पहले ही "साइरीन" (Cyrene) और

मिस्र में एसिनीज (Essenes) और थेराप्यूट (Therapeuts) लोग रहते थे। ये दोनों बौद्ध मतावलंबी थे। इन देशों में बौद्धों ने २०० वर्ष पूर्व से वही धर्म्म फैला रखा था जिसका प्रचार बाद में ईसा ने किया। ईसा के आगमन से पूर्व "जान बेप्टिस्ट" (John, the Baptist) एसिनीज लोगों के मत से भली भाँति परिचित था। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह स्वयं बौद्ध था। कदाचित् ईसा ने बौद्धधर्म के सिद्धांत इसी से सीखे थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारंभ में ईसाई और बौद्ध धर्म्म में कितनी समानता थी।[1]

भारतीय संस्कृति का अन्य देशों में विस्तार

भारतीय संस्कृति का विस्तार अशोक के काल से मुसलमानों के आक्रमण तक बराबर अन्य देशों और जातियों में होता रहा। इस विस्तार को हम दो विभागों में बाँट सकते हैं जिसमें इसके अध्ययन में सुभीता हो। एक तो भारत के पश्चिमोत्तरी देशों और जातियों में, दूसरा पूर्वी देशों और जातियों में।

पश्चिमोत्तर देशों में

इस विभाग में चीन, तिब्बत, नैपाल, जापान, मध्य एशिया (जिसको Serindia भी कहते हैं) अर्थात् खुतन, कूचा, काशगर, आदि सब देशों को शामिल कर सकते हैं। इस विभाग मे कूचियन, सोगडियन, मंगोलियन इत्यादि जातियों पर भारतीय संस्कृति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा जिसके कारण उन्होंने इस संस्कृति को चीन इत्यादि देशों में फैलाने में बड़ा भारी काम किया।

---

(१) देखो 'Fountain-head of Religion,' by Pt. Ganga Prasad, M.A, 4th Ed., pp. 17, 18.)

इन जातियों के द्वारा चीन में बौद्ध धर्म्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दी में ही हो गया था, किंतु भारतवर्ष से चीन का सीधा संबंध चौथी शताब्दी के अंत में फा-हियान के बाद से प्रारंभ होता है।

चीन से संबंध

इस समय से बौद्ध धर्म्म के कई मुख्य मुख्य ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ, जैसे धर्म्मपद, मिलिंदपद इत्यादि। फा-हियान भारतवर्ष में कोई १५ वर्ष रहा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमा। उसने पाटलिपुत्र में रेवती नामक बौद्ध विद्वान् से शिक्षा ग्रहण की और लंका में जाकर धर्म्म प्रचार किया। फा-हियान के अतिरिक्त इस समय अन्य बहुत से भक्त चीन से गोबी रेगिस्तान, खुतन और पामीर के भयानक पहाड़ी रास्तों से इस देश में आते रहे। फा-हियान भी इसी मार्ग से आया था। वह तक्षशिला, पुरुषपुर (पेशावर) इत्यादि विद्यापीठों में घूमा, तीन वर्ष पाटलिपुत्र में ठहरकर बौद्ध धर्म्म का अध्ययन करता रहा और अंत में लंका, जावा इत्यादि होता हुआ चीन लौट गया।

इसी समय एक विद्वान् कुमारजीव ने बौद्ध धर्म्म को चीन में फैलाने में बड़ा भारी काम किया। कुमारजीव का पिता एक भारतीय था। युवा अवस्था में वह काश्मीर में जा बसा। वहाँ उसने उस देश की राजपुत्री से विवाह किया। इनका पुत्र कुमारजीव हुआ। कुमारजीव की माता अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने के लिये भारत में आई। युवक कुमारजीव बौद्ध हो गया और चीन में जाकर उसने बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद करने के लिये एक मठ स्थापित किया। यह बड़ा तीक्ष्ण-बुद्धि तथा प्रकांड पंडित था। इसके सफलीभूत कार्य ने चीन

में बौद्ध धर्म की बुनियाद को पाताल तक पहुँचा दिया। इसी समय में (ई० ४१६ में) एक और विद्वान्, बुद्धभद्र ने चीन में जाकर ध्यान संप्रदाय की स्थापना की।

पाँचवीं शताब्दी में कई विद्वान् प्रचारक लंका और जावा से चीन में गए और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त काश्मीर का राजकुमार, जो राज-पाट को लात मारकर बौद्ध भिक्षु हो गया था, अपने धर्म का प्रचार करने चीन गया। वहाँ पर उसने दो बौद्ध-विहारों की स्थापना की और भिक्षुणियों की भी एक संस्था चलाई। छठी शताब्दी में समुद्र मार्ग के द्वारा लंका और मलाया के टापुओं मे से होते हुए चीन से भारतवर्ष का अधिक आना जाना शुरू हुआ। एक और बड़ा बौद्ध पंडित परमार्थ नामक (४२०—५००) सन् ४४० ई० में चीन में पहुँचा। वहाँ पर उसने वसुबंधु तथा अन्य विद्वानों के ग्रंथों के अनुवाद किए और योगाचार्य संप्रदाय की स्थापना की।

इस काल में चीन और भारत का विशेष संबंध हो गया। बहु से लोग दोनों देशों से आने जाने लगे। इत्सिंग तथा युवानच्वांग के लेखों से मालूम होता है कि चीन इत्यादि देशों में भारतीय धर्म्म के प्रति बड़ी भारी श्रद्धा तथा प्रेम उत्पन्न हो गया था। सब देश इसे अपना आध्यात्मिक गुरु मानने लगे थे। इस समय में जिन जिन भारतीय ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ वे सब चीन के साहित्य का एक मूल्यवान् भाग बन गए हैं। भारत के प्रति इतनी भक्ति हुई कि यहाँ की कला, विज्ञान, दर्शन

६ठी शताब्दी से ११ वीं त चीन और भारत का सं ध

इत्यादि जो कुछ भी विद्याएँ उन देशों में जाती थीं उनको सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

इस विषय पर पाल पेलियट, सर ऑरेल स्टाइन, तथा ग्रुन वेडेल इत्यादि विद्वानों की नई खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि यूनानी, ईरानी, ईसाई तथा मैनिकियन यह सब संस्कृतियाँ मध्य एशिया में आकर बौद्ध धर्म की आत्मा में सम्मिलित हो गईं। इसी समय चीन में टाओ मत और कनफ्यूशियन मत भी ज़ोर पकड़ रहे थे और टाओ मतावलंबियों और बौद्धों में परस्पर बड़े झगड़े हुए। १३वीं शताब्दी में चंगेज खाँ के पुत्र कुबलई खाँ के राज्य में तो बौद्धों की विजय हुई, किंतु उसके बाद उनका पतन प्रारंभ हो गया।

कोरिया और जापान में भारतीय सभ्यता

कोरिया में बौद्ध मत चीन से चौथी शताब्दी में ही पहुँच गया था। इसके बाद कुछ प्रचारक भारतवर्ष से भी वहाँ गए। छठी शताब्दी में कोरिया के राजा और रानी भी भिक्षु हो गए थे। सन् ५३९ ई० में जापान में यहाँ से बौद्ध धर्म पहुँचा। वहाँ पर पहले तो कुछ विरोध हुआ। किंतु छठी शताब्दी के अंत तक समस्त विरोधी दल नष्ट हो गया। जापानी राजा उमायाडो ने बौद्ध धर्म को सन् ५८७ ई० में राजधर्म बना दिया। उसने कोरिया से बौद्ध पंडितों को ज्योतिष आदि विद्याओं की शिक्षा के लिये बुलाया और बौद्ध धर्म्म के अध्ययनार्थ चीन में विद्यार्थी भेजे। फिर तो जापान में अनेक प्रचारक तथा धर्म्म-शिक्षक पहुँच गए। फल यह हुआ कि शीघ्र ही जापान के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन पर बौद्ध धर्म्म के आचार विचार, दया, अहिंसा इत्यादि के आदर्शों का बड़ा

गहरा प्रभाव पड़ा। सन् ७३६ में भारत का बौद्ध पंडित बोधीसेन जापान में गया और वहाँ का महंत बना। इन प्रचारकों ने जापान में संगीत, शिल्प तथा अन्य कलाओं की भी बड़ी भारी उन्नति की जिनके नमूने जापान के विचित्रालय में अब तक विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध हकीमों ने अपनी सेवा तथा सौजन्य से ऐसा प्रभाव डाला कि बौद्ध धर्म्म की बड़ी जल्दी उन्नति हुई।

तिब्बत में भारतीय सभ्यता

तिब्बत देश की राजनीतिक महत्ता सातवीं शताब्दी में महाराजा स्रौंग सान गेम्पो (६३० ६९८ ई०) के समय में बढ़ी। सान गेम्पो ने दो विवाह किए, एक नैपाली स्त्री से, दूसरा चीनी स्त्री से। उसकी नैपाली रानी ने तिब्बत में बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया। गेम्पो ने अपने मंत्री कुंभी संपोटा को बौद्ध धर्म्म का अध्ययन करने के लिये भारतवर्ष भेजा। उसने देवनागरी अक्षरों के आधार पर तिब्बती लिपि बनाई। गेम्पो के बाद एक और राजा ने (७४०—७८६) भारतीय विद्वानों को अपने यहाँ बुलाया और बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद कराए। इस प्रकार तिब्बत का अपना साहित्य तथा धर्म्म-पुस्तकें तैयार हो गई।

तिब्बत मे एक नवीन प्रकार का संप्रदाय पैदा हो गया। वहाँ पर उच्च दर्शनशास्त्र तथा वास्तविक बौद्ध धर्म्म के स्थान पर रहस्यवाद और छायावाद का अधिक आदर हुआ। इसी के फल स्वरूप वहाँ पर वज्रयान तथा कालचक्रयान की उत्पत्ति हुई और लामामत की स्थापना हुई।

तेरहवीं शताब्दी में टाओ मतावलंबियों ने बौद्ध धर्म्म का बड़ा विरोध किया और बौद्ध धर्म माननेवालों पर बड़े अत्याचार

करने शुरू किए। उनके बहुत से मंदिर तथा मठ जला डाले और बहुत से छीन लिए। इसी समय में मंगोल विजेता चंगेज खाँ ने

तुर्क और मंगोल जातियों में भारतीय सभ्यता

चीन, तिब्बत और भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा तक समस्त मध्य एशिया को जीत लिया। सन् १२२७ में उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा जगतई सिंहासनाधीश हुआ। जगतई सन् १२४१ में मर गया और उसके बाद मंगू को खान निर्वाचित किया गया। उसके छोटे भाई कुबलई ने दक्षिण चीन को भी अधिकृत कर लिया। सन् १२५९ में कुबलई स्वयं राजा हो गया। चंगेज खाँ तो अपनी लड़ाई और चढ़ाइयों के काम में इतना व्यस्त रहता था कि बौद्ध लोग उस तक अपनी फरियाद न पहुँचा सके। किंतु मंगू खाँ और उसके भाई कुबलई खाँ के शासन में स्थिति बदल गई। बौद्धों ने मंगू खाँ से शिकायत की कि टाओ मतवाले हम पर बड़े अत्याचार करते हैं। मंगू खाँ ने दोनों मतों के पंडितों के बीच में कई बड़े-बड़े शास्त्रार्थ कराए। अंत में फग्स पा[1] नामी लामा ने टाओ मतवालों को पूर्णतया पराजित कर दिया, और शर्त्त के अनुसार अठारह टाओ पंडितों को सर मुँडाकर बौद्ध धर्म्म ग्रहण करना पड़ा। फग्स पा का कुबलई खाँ पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने बौद्ध धर्म्म को राजधर्म्म बना लिया और फग्स पा को बुलाकर राजमहंत के पद पर नियुक्त किया। तिब्बत के द्वारा भारतवर्ष और नैपाल की भिन्न भिन्न विद्याएँ तथा कलाएँ मध्य एशिया में मंगोलों के राज्य में पहुँचीं। सन्

---

(१) "फग्स पा" आर्य शब्द का तिब्बती रूप है।

१२८० में फग्स पा का स्वर्गवास हुआ। उसके बाद धर्म्म-पाल उसके स्थान पर लामा हुआ। उन लोगों के प्रचार का इतना प्रभाव पड़ा कि मध्य एशिया और साइबेरिया के तुर्क, तिब्बती तथा अन्य निकटस्थ जातियाँ एक आध्यात्मिक एकता के सूत्र में बँध गईं।

इसी समय में भारत के लोग बर्म्मा, श्याम, कंबोडिया इत्यादि देशों में से होते हुए सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली इत्यादि द्वीपों में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किए। इन स्थानों में पुराने खंडहर तथा शिलालेख इत्यादि बहुत मिले हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रमाण भी ऐसे मिल चुके हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि भारतवर्ष के व्यापारी तथा यात्री लोग इन देशों मे भी पहले से ही पहुँच गए थे। चीनी साहित्य से पता चलता है कि फ़ुनान अर्थात् कंबोडिया में तीसरी शताब्दी में भारतीय लोग मौजूद थे। अतएव यह कहना निराधार नहीं होगा कि ईसा की पहली शताब्दी से ही भारतीय संस्कृति का काफी प्रभाव पीगू, बर्म्मा, चंपा, कांबोज, सुमात्रा, जावा इत्यादि पर पड़ चुका था।

पूर्वी देशों तथा द्वीपों में भारतीय उपनिवेश

फिर पाँचवीं शताब्दी में अन्य देशों में नए भारतीय उप-निवेश शुरू हुए और चंपा तथा कांबोज बिलकुल हिंदू बन गए। यह समय भारतवर्ष मे बड़ी वैज्ञानिक तथा साहित्यिक उन्नति का था। इस ज्ञानोन्नति के कारण सब मतों में परस्पर सहिष्णुता तथा उदारता के भाव बढ़ रहे थे। यही समय था जिसमें बौद्धमत भी हिंदू धर्म्म का एक अंग बन गया।

बाहरी देशों में भारतीय सभ्यता आज तक विद्यमान है।

इन पूर्वी देशों में भारतीय सभ्यता अब तक विद्यमान है। वहाँ के त्योहार इत्यादि भारतीय हैं। रामायण तथा महाभारत का उतना ही मान वहाँ पर है जितना यहाँ पर। उदाहरण के लिये श्याम के एक त्योहार का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

श्याम में इस त्योहार को "लोह चिंगचा" बोलते हैं। इस शब्द का सीधा अर्थ है "झूला झूलना"। यह त्योहार

श्याम में झूले का त्योहार

पौष महीने में श्याम के बेंकाक नगर में मनाया जाता है। इसमें ब्राह्मणों का बड़ा काम पड़ता है। इसके मनाने के लिये एक विशेष तीर्थस्थान नियत है। प्रति वर्ष नियत दिन से कुछ समय पहले राजा अपने एक उच्च पदाधिकारी को उत्सव का प्रमुख बनने का काम सौंप देता है। इसको शिव का (फ्राईस्वेन, अर्थात् ईश्वर) पार्ट खेलना पड़ता है।

झूले के लिये एक बाड़ा बाँधा जाता है। यह झूला छः मजबूत रस्सों का होता है। उसमें झूलने के लिये एक तख्ता कोई छ फुट लंबा लटका दिया जाता है। इस तख्ते में एक और रस्सी बँधी होती है जिसे पकड़कर झोटे देने में आसानी होती है। झूले के पश्चिम की ओर उससे थोड़ी दूर पर एक लंबा बाँस गाड़ दिया जाता है और उस में रुपयों की एक पोटली लटका दी जाती है। उत्सव के प्रारंभ होते समय चार हृष्ट पुष्ट युवक विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करके झूले पर चढ़ जाते हैं। इनकी टोपियाँ बड़ी ऊँची होती हैं और देखने में नागमुखी सी लगती हैं।

इन टोपियों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग न तो देवता हैं न मनुष्य, बल्कि शेषनाग की प्रजा में से हैं और संसार को शिवजी की लीला दिखाने आए हैं।

ब्राह्मण लोग अखाड़े में दाखिल होकर प्रार्थना करना आरंभ करते हैं और एक आदमी झूले को हिलाना शुरू कर देता है। जब झोंटे बढ़ने लगते हैं तब वे चार मनुष्य, जो तख्ते पर चढ़े होते हैं, देवताओं को नमस्कार करने के लिये नव जाते हैं। फिर धीरे धीरे झोंटे इतने बढ़ जाते हैं कि झूला उस बाँस तक पहुँचने लगता है। तब झूलनेवालों में से एक आगे को झुककर रुपयों की पोटली अपने दाँतों से पकड़ लेता है। इस प्रकार तीन बार नए चार झूलनेवाले, नया तख्ता, नई पोटली इत्यादि सब बदलकर वही लीला की जाती है। खेल समाप्त होने पर यह बारह झूलनेवाले नादियों के सींग लेकर तीन तीन बार नाचते हैं और अपने सींगों को पानी में डुबोकर सब पर छिड़कते हैं। मुख्य पात्र अर्थात् जो इस उत्सव का राजा बनता है वह सब लीला को एक निश्चित आसन पर बैठा हुआ देखता रहता है। उसका बायाँ पैर जमीन पर रखा रहता है और दहना बाएँ घुटने पर। उत्सव के अंत तक उसे इसी प्रकार बैठना पड़ता है। इसके बाद ब्राह्मण जन स्तुतिगान करते हैं जिसको सुनने के पश्चात् भगवान् "फ्राईस्वेन" अपने देवताओं के साथ बिदा हो जाते हैं।

तीसरे दिन फिर यह सब लीला इसी प्रकार दोहराई जाती है और तब यह उत्सव समाप्त हो जाता है।

यह उत्सव प्राचीन समय में सारे श्याम देश में मनाया जाता था। किंतु अब केवल बैंकाक में ही वसंत की

संक्रांति के दिन मनाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस त्योहार का अभिप्राय सूर्य्य के उत्तरी गोलार्ध में आने तथा उसके चक्रों को संकेत करना है। किंतु इसका संबंध कृषि से भी मालूम होता है। शिवजी श्रावण शु० सप्तमी को इस पृथ्वी पर पधारते हैं। इस कारण सप्तमी और नवमी को यह उत्सव किया जाता है।

यह साफ मालूम होता है कि यह त्योहार भारतीय डोल-यात्रा का रूपांतर ही है। हमारे देश में यह फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इसमें जो कुछ फरक हो गया है वह समय और स्थान के कारण से है।

परंतु झूले के लट्टों को मेरु पर्वत, रस्सों को शेष, तीन तख्तों को तीन देवताओं, अर्थात् आदित्य, चन्द्र और धरणी, का चिह्न रूप माना जाता है। इससे यह भी संभव है कि यह उत्सव देवताओं के समुद्र-मंथनवाली कथा के स्मृति-रूप हो। झूले के झोटे पूरब पश्चिम दिशा में दिए जाते हैं। इससे भी इस विचार की पुष्टि होती है।[1]

जावा में महाभारत और वायांग

जिस प्रकार भारतवर्ष में गुड़ियों और कठपुतलियों के खेल तमाशे होते हैं उसी प्रकार जावा में भी होते हैं। वहाँ पर इन तमाशों को वायांग कहते हैं। यद्यपि जावा-निवासी ५०० वर्ष से मुसलमान धर्म्मानुयायी हैं तो भी उनके वायांगों में अब तक हिंदुओं की प्राचीन कथाएँ प्रचलित हैं। इन वायांगों का दिखलानेवाला, जिसे "दालंग" कहते हैं, कठपुत-

---

(१) "Encyclopædia of Religion and Ethics," (vol. V., p. 889.)

लियों को एक डोरी के जरिए से नचाता है। इसी प्रकार हमारे देश में होता है। भेद इतना है कि यहाँ पर देखने-वाले कठपुतलियों को ही देखते हैं, किंतु जावा में इनकी परछाईं एक चादर पर डाली जाती है और दर्शकगण इन परछाइयों को देखते हैं। भारतवर्ष में भी प्राचीन समय में इसी प्रकार कठपुतलियों के छायाचित्र दिखाए जाते थे। तमाशे के साथ जावा का संगीत भी होता रहता है जिसे गेमिलन कहते हैं। ये कठपुतलियाँ भारतीय महाकाव्यों के नायकों को ही सूचित करती हैं। बहुत काल के रिवाज से इन सब कठपुतलियों के आकार, सूरत शकल, रंग तथा जेवर मर्यादित हो गए हैं। कोई १००० वर्ष पहले वायांग के खेल जावा में इतने प्रचलित थे कि कविगण इन छायाचित्रों का अलंकारों में प्रयोग किया करते थे और दर्शक लोग इन अभिनयों को बड़ो रुचि के साथ देखते और समझते थे।

१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में Sir Stamfford Raffles ने "वायांग" के संबंध में इस प्रकार लिखा था—इस प्रकार के दृश्यों से, जिनका जातीय गाथाओं से संबंध हो, जो उत्सुकता तथा जोश लोगों में उत्पन्न होता था उसका अनुमान करना भी कठिन है। दर्शकगण रात भर बैठे बैठे बड़े हार्दिक हर्ष तथा एकाग्र चित्त से इन गाथाओं को सुना करते थे।

आजकल भी विशेष मौकों पर गृहस्थो में वायांग का होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस लीला का जावा में कितना भारी मान अब तक है।

जिस समय हिंदू लोग जावा में आए, वे अपने धर्म-ग्रंथ अपने साथ लाए। इनमें से महाभारत सबसे शीघ्र अधिक

लोकप्रिय हुआ। उसके अठारह पर्वों के आधार पर शीघ्र ही नाटकों की रचना हो गई। इनमें से कतिपय ग्रंथ, जो गद्य में महाराजा अरलंगा (Erlangga) के काल अर्थात् ११वीं शताब्दी में लिखे गए थे, हाल ही में मिले हैं और हालैंड के डच विद्वानों ने उनको प्रकाशित भी कर दिया है। मलाया साहित्य में इन उद्धृत प्रसंगों को "हिकायात पांडवा लीमा" कहते हैं।

केदिरी (Kodiri) के राजा जयबाय के काल में उसके राजकवि पेनुलूह (Penoolooh) ने भी महाभारत के कतिपय अंशों का गद्यात्मक उल्था प्राचीन जावा की भाषा अर्थात् "कवी" (Kavi poetry) पद्य में किया था। यह ग्रंथ 'भारत युद्ध' आधुनिक जावी भाषा में (Brata yuda) व्रतयुद कहाता है। महाभारत की कथाओं का इतना गहरा प्रभाव जावा-निवासियों पर पड़ा कि महाभारत के पात्रों तथा स्थानों को वे लोग अपने देश के ही मानने लगे और उनका यह विश्वास हो गया कि महाभारत का युद्ध जावा में ही हुआ था और जावा के राजा लोग प्राचीन पांडव तथा यादव वंशों से ही अपनी उत्पत्ति बतलाने लगे।

किंतु इस घटना के साथ साथ प्रारंभ से ही पुराने जावा, मलाया और पोलिनीशिया की पौराणिक कथाएँ भारतीय कथाओं के साथ मिलने लगीं। अतएव मुसलमानों के आक्रमण तथा शासन के पहले युग में अर्थात् सन् १५०० ई० १७५८ तक, बड़ी विध्वंसकारी लड़ाइयों के कारण प्राचीन हिंदू रीति तथा मर्यादा कुछ पीछे पड़ गई। सन् १७५० के बाद जावा का "पुनरुज्जीवन" हुआ और तब से वहाँ के प्राचीन हिंदू साहित्य का पुनरुत्थान करने के लिये बड़ा

प्रथम शुरू हुआ। परंतु "कवी" अर्थात् जावा की पुरानी भाषा इस समय पूरी तरह नहीं पढ़ी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस समय जो ग्रंथ लिखे गए उनमें बड़ी विचित्र विचित्र अशुद्धियाँ घुस गईं, यद्यपि ये सब पुस्तकें पुराने ग्रंथों के आधार पर ही लिखी गई थीं जो १८वीं शताब्दी में जावा में मिलते थे। अंत में इन तमाशा करनेवालों ने (अर्थात् दालंगों ने) स्वयं भी कुछ परिवर्त्तन कर दिए; क्योंकि वे अपने खेलों को अधिक रुचिकर तथा प्रिय बनाने के लिये पुरानी कथाओं की परिस्थिति को समयानुकूल बनाते जाते थे।

तमाशा करते समय "दालंग," "लाकोन" (Lakons) में देखता जाता है जिससे भूल न जाय। ये लाकोन छोटे छोटे नाटक होते हैं। दालंग कुछ नई बातें तुरंत भी गढ़ लेता है जिससे श्रोताओं की मनस्तुष्टि हो। इन संक्षिप्त नाटकों के अतिरिक्त बड़ी बड़ी पुस्तकें भी होती हैं। इन नाटकों को ४ वर्गों में रखा गया है। देवताओं, राक्षसों तथा वीरों की उत्पत्ति की कथाएँ, जो महाभारत के आदिपर्व से ली गई हैं, इन कथाओं में मालय-पोलिनेशी गाथाओं का काफी मिलाव है। अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कथासमूह का विषय है पांडवों तथा कौरवों की कथाएँ।

महाभारत के आधार पर रचित ऐसे लाकोन कोई १५० होंगे जिनमें से आठ में पांडवों के पूर्वजों का वर्णन है।

महाभारत में तो पांडवों का देश-निकाला तथा पर्यटन "जतुगृह" घटना के बाद शुरू होता है। तब इंद्रप्रस्थ में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होता है। इसके पीछे चौपड़ खेलने की घटना होती है और पांडव फिर वनवास को जाते

हैं और 'विराट' राजा के यहाँ वेष बदलकर रहते हैं। पांडवों के फिर से प्रकट होने के बाद कुरुक्षेत्र में युद्ध प्रारंभ होता है।

जावा की कथाएँ इससे कुछ भिन्न हैं। इनके अनुसार चौपड़ जतुगृह में ही खेली गई, और खेल के बीच में पांडवों को विषैला जल पीने को दिया जाता है जिससे भीम (Braha Sen in Javanese) के सिवा सब बेहोश हो जाते हैं और भीम उनको जलते हुए मकान से बाहर लाता है। तब दूर दूर घूमने के बाद पांडव लोग विराट नाम के देश में पहुँचते हैं। अंत में जब वे अपना सच्चा स्वरूप विराट के राजा मत्स्यपति को बतलाते हैं तब वह उन्हें इंद्रप्रस्थ (Ngamarta) का राज्य भेंट करता है। द्रौपदी का स्वयंवर इसी समय होता है।

इसी बीच में दुर्योधन (Sujudana) की शक्ति हस्तिनापुर (Nagastina) में बहुत बढ़ जाती है। वह पांडवों को उनकी राजधानी से निकाल देता है। वे फिर विराट देश के राजा मत्स्यपति की शरण लेते हैं। कृष्ण को भी अपनी राजधानी द्वारका (Dvaravati) छोड़नी पड़ती है। तद-नंतर भारत युद्ध (Brata yuda) प्रारंभ होता है।

जावा-निवासियों को अर्जुन सबसे अधिक प्रिय हैं। कम से कम ५० नाटकों में वह मुख्य पात्र का स्थान ग्रहण करता है, किंतु अपने जीवन के शुरू मे वह अपने प्रतिद्वंद्वी पाल्गू नादी (Palga Nadi) को एक घृणित षड्यंत्र द्वारा मरवा देता है। यह पाल्गू नादी भी द्रोणाचार्य का एक शिष्य था। अन्य लाकोनों में अर्जुन का सुभद्रा से प्रेम बढ़ाना और अन्य प्रतिद्वंद्वियों से लड़ना इत्यादि वर्णित

हैं। उसकी अन्य जीवन-घटनाएँ तथा नाम भी अनेक हैं। किसी किसी नाटक (लाकोन) में शिकंडी को अर्जुन की एक स्त्री दिखलाया गया है। उसके दो बेटों का विवाह कृष्ण की दो पुत्रियों के साथ हुआ है। और अर्जुन की पुत्री सुगात-वती का विवाह कृष्ण के पुत्र संबा के साथ हुआ है। अर्जुन और कृष्ण के ये तथा अन्य वंशज ही जावा के कतिपय राज-वंशों के संस्थापक माने जाते हैं।

युधिष्ठिर (Punt-Deva), वृकोदर (Worekodara), भीम (Brat Sena), देवी अरिंबी (Dewi Arimbi) और उसका बेटा घटोत्कच, दुर्योधन (जो दशमुखावतार है) (Sujudana) ये सब नाम जावा के मुसलमान लोगों में खूब प्रचलित हैं। ऐसे रिवाज भी पड़ गए हैं जिनके अनु-सार गृहस्थों में विशेष विशेष अवसरों पर खेले जाने के लिये विशेष विशेष प्रकार के "लाकोन" अर्थात् नाटक निश्चित हैं।[1]

---

(१) "माडर्न रिव्यू" के दिसंबर सन् २१ के अंक से डा० विजनराज चटर्जी के "The Mahabharata and the Wayang in Java" नामक लेख के आधार पर।

(७) जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की प्रतिमाएं

[लेखक—ठाकुर चतुरसिंह, मेवाड़]

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए० नामक विद्वान् ने भारत-वर्ष की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका "प्रभा" (१ जुलाई सन् १६२४ के अंक) में नैपाल राज्य की भौगोलिक स्थिति का संक्षिप्त परंतु बड़ा ही सुंदर वृत्तांत लिखा है, और प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों के अनेक फोटो देकर उस लेख की और भी मनोहरता बढ़ा दी है। उक्त लेख अपने भ्रमण में नेत्रों से देखकर लिखा है, या किसी पुस्तक आदि से, इस बात का आपने उल्लेख कहा नहीं किया, परंतु पूर्वापर विचार से यात्रा में सब दृश्य देखकर ही लिखा गया प्रतीत होता है। लेख सब प्रकार से हृदयग्राही होने पर भी इतिहास-विद्या से अनभिज्ञ साधारण मनुष्यों के कथन पर विश्वास कर लेने से कुछ भूलें भी हो गई हैं। जैसे पृष्ठ ३१ मे ललितपट्टन नगर का बसानेवाला राजा वीरदेव लिखा गया है, परंतु इतिहास में इसका निर्माता प्रसिद्ध महाराज अशोक प्रियदर्शी (ईस्वी स० से २७२ से २३२ वर्ष पूर्व) माना जाता है। इसी प्रकार पृष्ठ ३६ मे आप लिखते हैं कि "नैपाल में मुख्य चार संवत् हैं (१ विक्रम, २ शालिवाहन, ३ नैपाली और ४ कालीगाँव संवत्)। यह (कालीगाँव) संवत् सब से प्राचीन है, नैपाल के इतिहासों में इसका प्रयोग कहीं कहीं किया गया है। इसका प्रारंभ ईसा से ३१०१ वर्ष पहले से है।" कालीगाँव संवत् भी भ्रम से लिखा गया होगा, क्योंकि उक्त नाम का संवत् कहीं सुनने में नहीं आया। वास्तव में इसका

नाम कालीगाँव नहीं किंतु कलियुग संवत् होना चाहिए। उसका आरंभ भी ईसा से ठीक उतने ही वर्ष (३१०१) पूर्व समस्त भारतवर्ष में माना जाता है। इसी प्रकार तीसरी भूल जयमल्ल फत्ता के संबंध में की गई है, और यही मेरे लेख का मुख्य अभिप्राय है।

प्रभा के पृष्ठ ३१-३२ में अवस्थीजी लिखते हैं कि "तीसरा नगर भाटगाँव काठमांडू से ६ मील है, इस नगर की स्थिति राजा अनंगमल (ई० स० ८६५) के समय से है... ..यहाँ की जन-संख्या ३००३० है, इसके मध्य में जयमाल और फट्टा की दो छोटी छोटी प्रतिमाएँ हैं ये दोनों नैपाली पुरुष बड़े वीर थे। यहाँ पर (भाटगाँव में) और भी कई एक देवप्रतिमाएँ हैं"......उक्त भूल का भी इतिहास से अपरिचित किसी मनुष्य के कथन से होना संभव है। उसने अज्ञान से दोनों को नैपाली वीर कह दिया होगा, और अवस्थी महाशय ने वैसा ही नोट कर लिया होगा, क्योंकि जयमाल फट्टा का नाम तक नैपाल के इतिहास में नहीं मिलता। उक्त दोनों मूर्तियाँ नैपाल के वीरों की नहीं, किंतु राजपूताना के इतिहासप्रसिद्ध जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की होनी चाहिएँ। अब रही नामों के उच्चारण की अशुद्धि, इसमें ऐसा अनुमान होता है कि उक्त अवस्थीजी ने सब दृश्यों के साथ मूर्तियों के नोट भी अँगरेजी अक्षरों में लिखे होंगे, परंतु अँगरेजी लिपि की अपूर्णता से जयमल और जयमाल दोनों शब्द एक ही प्रकार के अक्षरों में लिखे तथा पढ़े जाते हैं, जिससे जयमल का जयमाल पढ़ा गया हो। इसी प्रकार अँगरेजी अक्षरों में 'त' का अभाव होने से उसके स्थान में 'ट' अक्षर सदा लिखा और बोला जाता है।

इसी कारण नोट-बुक में फत्ता का फट्टा लिखा होगा। फिर स्मरण न रहने से वही अशुद्ध नाम लेख में लिखना पड़ा हो। परंतु वास्तव में दोनों प्रतिमाएँ चित्तौड़ के रक्षार्थ सम्राट् अकबर से घोर युद्ध करके वीर गति पानेवाले इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा राव जयमल्ल राठौड़ और रावत फत्ता (पत्ता) सीसोदिया की ही होनी चाहिएँ। अवस्थीजी ने उस लेख में राजामल्ल आदि की कुछ प्राचीन प्रतिमाओं के फोटो भी दिए हैं। परंतु जयमल्ल फत्ता की मूर्तियों के चित्र नहीं दिए। यदि उनका भी चित्र देते तो मेरे कथन की पुष्टि हो जाती, क्योंकि वे मूर्तियाँ किसी अनुभवी मूर्तिकार की बनाई हुई होंगी तो नैपाल के विरुद्ध उक्त मूर्तियों के वस्त्र, शस्त्र, वेशभूषा, भाव-भंगी आदि सब राजपूताना के होने संभव हैं।

विज्ञ पाठकों को एक बड़ी शंका और हो सकती है कि चित्तौड़ के वीरों की मूर्तियाँ नैपाल जैसे दूर देश में क्यों बनाई गईं। इसका भी कुछ विस्तृत समाधान मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार किया जाता है। सम्राट् अकबर बड़ा ही गुणग्राही, नीति-कुशल, वीर, बुद्धिमान् तथा वीरों का आदर करनेवाला था। यद्यपि जयमल्ल और फत्ता उसके विपक्षी थे और युद्ध में अपार जन तथा धन का विनाश कर चुके थे, तो भी बादशाह उक्त दोनों वीरों की स्वामिभक्ति और वीरता पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी राजधानी आगरा में पहुँचते ही उसने बड़े विशाल श्वेत पाषाण (संगमरमर) के दो हाथी बनवाए और उनके ऊपर जयमल्ल तथा फत्ता की पूर्णाकार प्रतिमाएँ बैठाकर राजधानी (आगरा) के किले के द्वार पर स्थापित की गईं, और उनकी प्रशंसा के लिये इसी भाव का राजस्थानी

भाषा का एक दोहा पाषाण पर खुदवाकर दोनों गजारूढ़ प्रतिमाओं के मध्य में द्वार के ऊपर लगवाया गया। वह दोहा इस प्रकार है—

दोहा

जयमल बड़ताँ जीमणों फत्तो बावें पाश।
हिंदू चढ़िया हाथियां अड़ियो जश आकाश॥

इस दोहे का भावार्थ इस प्रकार है कि "बाहर से द्वार मे प्रवेश करते समय दाहिनी ओर जयमल्ल की प्रतिमा और वाम पार्श्व में फत्ता की मूर्ति है, ये दोनों हिंदू वीर हाथियों पर चढ़े हुए हैं और इन वीरों का सुयश (पृथ्वी से भी आगे) आकाश को स्पर्श कर चुका है।" राजा बीरबल आदि विद्वानों की सत्संगति से बादशाह भी हिंदी कविता करता था, जिसको कई पुरातत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं, फिर दोहे में हिंदू शब्द रखने से यह किसी मुसलमान की रचना पाई जाती है। इसलिये कई विद्वान् उपर्युक्त दोहे को स्वयं बादशाह की रचना मानते हैं। जो कुछ हो, परंतु बादशाह ने अपने प्रतिपक्षी वीरों की प्रतिमाएँ बनवाकर अनुकरणीय गुणग्राहकता का परिचय दिया था। अकबर बड़ा दूरदर्शी और राजनीति-विशारद था, इसलिये उक्त कार्य में राजनैतिक युक्ति भी थी जिससे राजभक्त वीरों का उत्साह बढ़े; क्योंकि मेवाड़ के अतिरिक्त आर्यावर्त के समस्त नरेशों का आवागमन सदा राजधानी आगरे में होता रहता था, उनके चित्त पर अपनी उदार गुणग्राहकता का प्रभाव अंकित करने के निमित्त भी उक्त वीरोत्तेजक कार्य किया गया होगा, क्योंकि वे लोग प्रतिदिन उन वीर-प्रतिमाओं को देखकर विचारते होंगे कि जिन पुरुषों

ने बादशाही अनंत द्रव्य और सेना का संहार किया है, उन विपक्षियों की केवल वीरता तथा देशभक्ति पर प्रसन्न होकर इतना बड़ा सम्मान किया गया है, तो हम लोग जब साम्राज्य की निष्कपट सेवा करेंगे तथा उसके निमित्त प्राण देंगे तब हमारा और हमारी संतान का अत्यंत आदर होगा। क्षत्रिय नरेशों का उक्त प्रतिमाओं के प्रभाव से प्रभावित होने का एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। वह इस प्रकार है कि—चित्तौड़ के दुर्ग-रक्षक जिस प्रकार जयमल्ल और फत्ता थे उसी प्रकार प्रसिद्ध रणथंभोर दुर्ग का नायक श्रीमान् महाराणा उदयसिंहजी की ओर से बूँदी का महा सामंत राव सुर्जन हाड़ा था। चित्तौड़-विजय के उपरांत ही अकबर ने रणथंभोर पर आक्रमण किया, तब उक्त हाड़ा राव ने बादशाह के प्रलोभन देने से महाराणा से विश्वासघात करके दुर्ग सम्राट् के अर्पण कर दिया और स्वयं भी महाराणा को त्यागकर बादशाही सेवक हो गया। इस बात पर जोधपुर के महाराजा यशवंतसिंह (प्रथम) का प्रधान मंत्री सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मूणोत नैणसी महता अपनी ख्यात (रचनाकाल वि० सं० १७०५ से १७२५ तक) में अकबर की वीरोचित गुणग्राहकता तथा जयमल्ल फत्ता की दृढ़ राजभक्ति और स्वामी-द्रोही बूँदी के राव सुर्जन का विश्वासघात दिखाने के उद्देश से लिखता है कि "चित्तौड़ के रक्षार्थ अपने प्रिय प्राण देनेवाले राव जयमल्ल राठौड़ और रावत फत्ता सीसोदिया की तो बादशाह ने हाथियों पर चढ़ी मूर्तियाँ बनवाकर राजद्वार पर खड़ी कराईं, परंतु स्वामी-द्रोही राव सुर्जन की एक कुत्ते की मूर्ति बनवाकर उसी स्थान पर रखवा दी, जिससे वह बड़ा लज्जित तथा मर्माहत

हुआ और पुत्र को अपना राजपाट देकर काशीवास को चला गया और आमरण लौटा नहीं।" (नैणसी की ख्यात अप्रकाशित पत्रा २७ पृष्ठ २) उपर्युक्त इसी एक उदाहरण से पाठकों को विदित हो सकता है कि जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियों का भारत की जनता पर कैसा भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता रहा होगा। सारांश ऐसी ही विलक्षण राजनीतिक युक्तियों से क्षत्रिय नरेशों को स्ववश में करके अकबर भारत सम्राट् तथा जगद्गुरु के पद को पहुँचा था।

सम्राट् अकबर द्वारा स्थापित वीरवर जयमल्ल और फत्ता की दोनों गजारूढ़ प्रतिमाएँ १०२ वर्ष पर्यंत राजधानी आगरे के राजद्वार की शोभा बढ़ाती रहीं, जिसका वृत्तांत कई फारसी इतिहासों में लिखा मिलता है। बादशाह शाहजहाँ के शासनकाल में इँग्लैंड से आनेवाले प्रसिद्ध यात्री 'बर्नियर' ने अपनी यात्रा-पुस्तक में उक्त प्रतिमाओं का वर्णन किया है। इसी प्रकार शाहजहाँ और आलमगीर का समकालीन जोधपुर का मुख्य मंत्री मूणोत नैणसी महता भी अपनी ख्यात में उपर्युक्त मूर्तियों का उल्लेख करता है। आलमगीर के इतिहास से विदित होता है कि अंत में जयमल्ल और फत्ता के वीर स्मारकों (मूर्तियों) को वि० सं० १७२६ में धर्मद्वेषी बादशाह आलमगीर ने विनष्ट करवाकर अपनी दुष्ट प्रकृति का परिचय दिया और साथ ही अकबर की सुनीति को ध्वंस करके अपने साम्राज्य के विनाश का बीज बो दिया। नैपाल जैसे दूर देश मे जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियाँ मिलने का मुख्य कारण अब पाठकों की समझ में आ सकता है कि जब गोरखा क्षत्रियों का राज्य नैपाल पर हुआ और उन्होंने बादशाह अकबर द्वारा उक्त

प्रतिमाओं के आगरे में स्थापित होने का वृत्तांत सुना होगा, तब नैपाल-नरेश ने उसका अनुकरण किया होगा, क्योंकि गोरखा लोगों की उत्पत्ति चित्तौड़ नगर, और सीसोदिया राजपूतों से हुई है। जब कि बादशाह अकबर ने शत्रु होकर भी उक्त वीरों का इतना बड़ा सम्मान किया था, तब नैपाल के महाराज अपने पूर्वजों की राजधानी चित्तौड़ के रक्षार्थ प्राण देनेवाले पुरुषों की मूर्तियाँ बनावें, इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है? इन प्रतिमाओं के अस्तित्व से भारतीय इतिहासवेत्ता अपरिचित थे। परंतु अब श्री सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए० की शोध का अस्पष्ट संकेत मिलने से वे प्रसिद्धि मे आई हैं।

नवीन शोध द्वारा दूर देश नैपाल में जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियाँ प्रसिद्धि मे आई, इसलिये उक्त वीरों का प्रसंग-वश अति संक्षिप्त परिचय मात्र देना भी ठीक होगा। मंडोवर के स्थान में राजधानी जोधपुर (वि० सं० १५१५ में) नियत करनेवाले राव जोधा राठौड़ के चतुर्थ राजकुमार राव दूदा ने वि० सं० १५१८ में मेड़ता नगर में और पंचम कुमार राव बीका ने वि० सं० १५२२ में बीकानेर में स्वतंत्र राज्य स्थापन किए थे। राव दूदा के पौत्र और राव वीरमदेव के पुत्र राव जयमल्ल मेड़ता राज्य के स्वाधीन अधिपति थे। जोधपुर के प्रसिद्ध राव मालदेव से अनेक घोर संग्रामों के उपरांत जब राजधानी मेड़ता पर बादशाह अकबर का अधिकार हो गया, तब राव जयमल्ल वैवाहिक संबंध के कारण चित्तौड़ चले आए; क्योंकि इनके चचा रत्नसिंह की पुत्री भारत-विख्यात मीराबाई का विवाह श्रीमन्महाराणा सांगा (संग्रामसिंह) के ज्येष्ठ युवराज भोज-राज से हुआ था। तत्कालीन मेदपाटेश्वर महाराणा उदय-

सिंह ने चित्तौड़ के स्थान में राजधानी उदयपुर (वि० सं० १६१६ में) बसाना आरंभ किया था। इसलिये उक्त श्रीमानों का अधिकतर निवास उदयपुर में ही होता था। अतः राव जयमल्ल को ३०० ग्रामों सहित बदनौर का परगना प्रदान करके चित्तौड़ का दुर्गाधीश बनाया गया जहाँ पर वे चार वर्ष पर्यंत अपना कर्तव्य पालन करते रहे। राव जयमल्ल के वंशज आज भी सहस्रों की संख्या में मारवाड़ तथा मेवाड़ में लाखों मुद्रा वार्षिक आय की भूमि पर अधिकार रखते हैं। इस लेख के लेखक को भी राव जयमल्ल का एक क्षुद्र वंशज होने का अभिमान प्राप्त है। द्वितीय योद्धा रावत फत्ता, मेवाड़ के महाराणा लाखा के ज्येष्ठ राजकुमार सुप्रसिद्ध रावत चूँडा (इन्होंने पितृभक्ति से राजर्षि भीष्म का अनुकरण करके चित्तौड़ का राजसिंहासन अपने वैमातृज कनिष्ठ भाई को दे दिया था।) के वंशज रावत जग्गा के पुत्र थे। उनकी संतान भी आमेट आदि कई प्रतिष्ठित ठिकानों पर अधिकार रखती है। जब सम्राट् अकबर ने विशाल वाहिनी सहित चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब राव जयमल्ल फत्ता आदि वीर छः मास से अधिक काल तक घोर संग्राम करते रहे और अनेक प्रलोभन देने पर भी स्वधर्म तथा राजभक्ति पर अचल रहे। इस जगत्प्रसिद्ध समर का वर्णन अनेक इतिहासों में सविस्तर लिखा होने से यहीं पर लेखनी को विश्राम देता हूँ।

---

(८) औरंगजेब का "हितोपदेश"

[लेखक—पंडित लज्जाराम मेहता, बूँदी]

मेरे भानजे पंडित रामजीवन जी नागर हिंदी के उन सुलेखकों में से हैं जो काम करके अपना नाम प्रकाशित करने का ढोल नहीं पीटना चाहते। उनके यहाँ उनके पूर्वजो की संगृहीत अनेक पुस्तकों में से एक बढ़िया पुस्तक, जिसे पुस्तक-रत्न कहा जा सकता है, प्राप्त हुई है। राजपूताना और मध्य भारत के रजवाड़ों में यदि पुस्तकें खोजने का कार्य नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा किया जाता तो अब तक न मालूम ऐसे ऐसे कितने ग्रंथ-रत्न प्राप्त हो सकते थे। इस पोथी का नाम "हित-उपदेश" है। पुस्तक का आरंभ करने से पूर्व एक पृष्ठ पर ब्रह्माजी का और दूसरे पर विष्णु, लक्ष्मी अथवा कृष्ण-राधिका का चित्र है। चित्रों में अनेक रंग हैं और वे बढ़िया हैं। कलम भी बहुत बारीक है किंतु पुरानी चित्रकारी में भावों का प्रायः अभाव होता था उसी तरह इनमें भी पता नहीं है।

इस "हित-उपदेश" की पृष्ठ-संख्या २८ है और प्रत्येक पृष्ठ में गिनी हुई सात सात पंक्तियाँ हैं, न न्यून और न अधिक। लिपि इतनी बारीक है कि जिसे पढ़ने में शायद ऐनक न लगानेवाले व्यक्ति को भी चश्मे की शरण लेनी पड़े। इतनी बारीक भी नहीं है कि जिसके लिये "आई ग्लास" की सहायता अपेक्षित हो। लिपि बहुत बढ़िया और किसी ऐसे व्यक्ति की लिखी हुई है जिसके लिये कहा जा सकता है कि अक्षर

बहुत जमे हुए थे। प्रत्येक पत्र की लंबाई ३ इंच और चौड़ाई २। होने पर भी हाशिया अधिक छोड़कर जितने भाग में दोहे लिखे गए हैं उसका नाप लंबा २॥ इंच और चौड़ो १ इंच रक्खी गई है। लिपि की बारीकी का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि इतने से क्षेत्रफल में ३। दोहों का समावेश किया गया है। अक्षरों की मोड़ से अनुमान होता है कि लेखक कोई रामस्नेही साधु था। जिल्द इस पोथी की, जिसे साइज के लिहाज से गुटका कहा जाता है, पुराने ढंग की बहुत बढ़िया किंतु टूटी हुई है। पुट्ठा साफ, कड़ा और समान है। इतनी सफाई है जितनी आजकल कल के बने हुए विलायती पुट्ठों में नहीं आ सकती।

इस पुस्तक के दो पत्र खो गए हैं। एक २१ का और दूसरा "इतिश्री" के बाद का। इकीसवाँ पत्र खो जाने से दोहे ११४ से १२० तक का अभाव है और अंतिम पत्र नष्ट हो जाने का फल यह हुआ है कि "इतिश्री" के बादवाले दूसरे दोहे के अंतिम भाग में "और संत के रीति को पावै सहज समा..." के बाद "ज" का अभाव है। कौन कह सकता है कि इसके बाद कितने दोहे थे। संभव है कि उस जगह लेखक का नाम और पुस्तक लिखने की तिथि तथा संवत् लिखा हो। पुस्तक कहीं कहीं अशुद्ध अवश्य है किंतु ऐसी अशुद्ध नहीं जो थोड़ा विचार करने से शुद्ध न हो सके।

पुस्तक के अंत में १५५ से १६३ तक के १३ दोहों में पुस्तक-रचना का कुछ इतिहास भी दिया गया है—

"बादशाह जो हिंद को आलिम आलमगीर।
बुद्धिवंत सर्वज्ञ जो दयावान मतिधीर ॥ १ ॥

तिन ये बातें समुझि के निज विचार में ल्याय।
हित उपदेशहि जानि के सबको दई लिखाय ॥ २ ॥
सो ये बातैं श्रवन कै श्रीमत् शंकर पंत।
सेवक सों आज्ञा दई याहि प्रकासै अंत ॥ ३ ॥
नरपति भाखा यामिनी माँझ कही ये बात।
ताकी ब्रजभाषा करी जामें अर्थ लखात ॥ ४ ॥
अल्पबुद्धि तें ग्रंथ कों दोहा बद्ध बनाय।
ताके भाव पदार्थ कों दीन्हों प्रकट दिखाय ॥ ५ ॥
जो कोउ ज्ञानी संत जन याकों पढ़ैं विचार।
चलैं महाजन पंथ कों जई होय संसार ॥ ६ ॥
ताकी कीरति जगत में गावे सबही वोक (?)।
देहपात के होत हो पावैं सुभ परलोक ॥ ७ ॥
स्यामदास या रीति तें, समुझि चलैं जो संत।
पावैं निज पुरुषार्थ तें रामचरन को अंत ॥ ८ ॥
एक[१] आठ[८] औ चार[४] के आगे वेदहि[४] जान।
सो संवत् यह जानिए गनिकै कर परमान ॥ ९ ॥
माघ मास औ सिसिर ऋतु, मकर रास भे भान।
तिथि वसंत की पंचमी वासर साम (?) प्रमान ॥१०॥
वन चरित्र जहँ राम ने वधी तारिका नार।
कीन्ही जाकी पूर्नता विस्वामित्र सँवार ॥ ११ ॥
सो गंगा के तट विसे बकसर गाँव सुहाय।
रामरेख तीरथ जहाँ अति पुनीत दरसाय ॥ १२ ॥
तहाँ ग्रंथ की पूर्नता सहज भई निरधार।
गुरु हरि सेवक संत जे अंत करैं विचार ॥ १३ ॥

दोहों की अशुद्धि ज्यों की त्यों रखने से ही दसवें दोहे में "सोम" का "साम" लिखना पड़ा है। सातवें दोहे के अंत का "वोक" विचारणीय है। संभव है कि यहाँ "लोक" पाठ शुद्ध हो। अर्थ स्पष्ट है। पुस्तक पढ़ने से यह नहीं जाना जाता कि यह शंकर पंत कौन महाशय थे। पंत शब्द का मराठी भाषा में अर्थ गुरु है। संभव है कि यह दाक्षिणात्य ब्राह्मण हों अथवा हिमालय प्रांत मे भी ब्राह्मण वर्ण में कितने ही नामों के साथ इस शब्द का प्रयोग होते देखा गया है। कुछ भी हो, अधिक संभावना इस बात की है कि शंकर पंत महाशय बादशाह औरंगजेब के दरबारियों में थे। बादशाह के मुख से ये उपदेश उन्होंने सुने और उन्होंने लेखक को—ग्रंथकर्त्ता को—आज्ञा दी। बादशाह की यामिनी भाषा से अवश्य ही मतलब फारसी से होना चाहिए। शाहजहाँ के लशकर से जन्म ग्रहण कर उर्दू उस समय तक इस दर्जे तक नहीं पहुँची थी जो, औरंगजेब जैसे कट्टर बादशाह के बोल-चाल की भाषा होने का गौरव प्राप्त कर सके। पुराने कागजात में बादशाह के फर्मानों और खरीतों की भाषा फारसी देखी जाती है इसलिये मान लेना चाहिए कि वह फारसी में ही बातचीत करते कराते थे। शंकर पंत भी फारसी का और इन प्रांतों की उस समय की भाषा का अच्छा विद्वान् होना चाहिए, तभी वह बादशाह के उपदेशों को समझकर ग्रंथ-कर्त्ता को सुना सका और उसी के आधार पर इस पोथी की रचना हुई।

इस पुस्तक के रचयिता श्यामदासजी, जिन्होंने बकसर में बैठकर ग्रंथ निर्माण किया, कौन थे? यह एक प्रश्न है।

ग्रंथकर्त्ता ने पुस्तक की इतिश्री के आगे एक दोहा और दिया है जिसमें लिखा है कि—"स्यामदास नित नेम तैं हित उपदेशहि जोय"—इससे अनुमान होता है कि इसके रचयिता श्यामदास थे। शायद लेखक और रचयिता एक ही हो। अंत का पत्र जब अप्राप्य है तब नहीं कहा जा सकता कि उसमें श्यामदास अथवा शंकर पंत संबंधी कितना इतिहास लिखा था। इन बातों का पता लगाना इतिहास के खोजियों का काम है। संवत् १८४४ स्पष्ट है। "अंकानां वामतो गतिः" के नियम का यहाँ पालन नहीं हो सकता। "रामरेख" तीर्थ भी तलाशकर प्रकाश डालने योग्य है। किसी बिहारी सज्जन के ध्यान देने से शायद "रामरेख" के संबंध से श्यामदास का भी पता लग जाय क्योंकि घटना अधिक पुरानी नहीं है।

बादशाह औरंगजेब हिंदू संस्कृति का कट्टर शत्रु था। यदि उसकी चलती तो सारे हिंदुस्तान को मुसलमानिस्तान बना डालता। उसके काले कारनामे भारतवर्ष के इतिहास को सदियों तक कलंकित करते रहेंगे। परंतु जिसमें उत्कृष्ट दोष होते हैं उसमें कभी कभी गुण भी उत्कृष्ट हुआ करते हैं। "शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि"—इस लोकोक्ति के अनुसार हमें उसके गुणों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यदि इस पोथी की रचना के अनुसार ये दोहे उसी के उपदेशों के आधार पर रचे गए हों तो वह वास्तव मे बहुत ही गुणवान् था। इसके एक एक दोहे के परिणाम पर दृष्टिपात करने से वह लाख लाख रुपए में भी सस्ता है। इसमें धर्म है, राजनीति है और लोकाचार है। और जो कुछ है वह यावनी कट्टरपन को छोड़कर—सांप्रदायिक बातों से बिलकुल

अलग है। संभव है कि रचयिता ने शाही उपदेशों का आश्रय लेकर इसे हिंदूपन के ढाँचे में ढाल दिया हो। कुछ भी हो, पुस्तक बढ़िया है।

इसमें दो बातें, तीन बातें,—इस तरह चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और दस बातें—ऐसे शीर्षक से दिखलाया है कि कौन बातें ग्राह्य और कौन कौन त्याज्य हैं। नमूने के लिये "दो बात" शीर्षक के चार दोहे यहाँ दे देना काफी होगा—

"दोय वस्तु तें जगत में अति उत्तम कछु नाहि।
निश्चय ईश्वर भाव पै (मे) दया जीव के ठाहि (माहि)॥१॥
द्वै बातन तें अधम नर नाहीं जगत् प्रसिद्धि।
अहंकार भगवान तें जन अपकारी बुद्धि॥२॥

× × × × ×

दोय वस्तु ये जानिए बहुत बुरी जग बीच।
कृत निंदकता येक (एक) और दूजे संगति नीच॥३॥
दोय वस्तु ये मूढ़ता जानौ निश्चै चित्त।
सेवा दुष्टन की करै और स्तुति अपनी (स्तुती आपनी) नित्त॥४॥

इन दोहों में ब्रेकेट के भीतर जो शब्द हैं वे मेरे हैं। मूल पाठ ज्यों का त्यों रखकर शुद्ध करने के लिये अपने शब्द कोष्ठक में दिए गए हैं। कविता तुकबंदी है।

हंडे मे से एक चावल निकालकर नमूना देख लिया जाता है। इस तरह इसकी कविता चाहे साधारण ही क्यों न हो किंतु इसमे किंचित् भी संदेह नहीं कि इसका एक एक उपदेश लाभ उठानेवाले के लिये लाखों रुपए की लागत का हो सकता है। "पत्रिका" के इतिहास-प्रेमी साहित्य-रसिक

विद्वानों की कृपा से यदि इसका घटता पाठ पूर्ण होकर पुस्तक शुद्ध हो सके तो मेरी आयु के अंतिम वर्षों में इसका संपादन कर लेखनी की सार्थकता हो। कृतकार्य होने पर मैं अपने आपको धन्य समझूँगा और जो महाशय मुझ अकिंचन को इस कार्य में सहायता प्रदान करेंगे उनके नामी नाम पुस्तक के साथ आदरपूर्वक प्रकाशित किए जायँगे। मुझे अपने नाम से भी मतलब नहीं, यदि किसी विद्वान् के पास यह पोथी हो तो मैं इसकी प्रति उतरवाकर भेज सकता हूँ।

---

(६) हिंदी की गद्य-शैली का विकास

[लेखक—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०, काशी]

साहित्य की भाषा का निर्माण सदैव बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है। ब्रज की भाषा का जो रूप साहित्य की भाषा में व्यवहृत हुआ वह बोलचाल से कुछ भिन्न था। यों तो प्रांत प्रांत की बोलियाँ विशेष थीं; परंतु वह बोली जिसने आज हमारी साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया है, दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। उस स्थान से क्रमशः मुसलमानों के विस्तार के साथ वह बोली भी इधर उधर फैलने लगी। कई शताब्दियों के उपरांत यही समस्त उत्तर भारत की शिष्ट भाषा बन बैठी, और यही भाषा सुदृढ़ और विकसित होकर आज खड़ी बोली कहलाती है।

इतिवृत्त

इस खड़ी बोली का पता कितने प्राचीन काल तक लगता है यह प्रश्न बड़ी उलझन का है। आरंभ से ही चारण कवियों का झुकाव शौरसेनी अथवा ब्रजभाषा की ओर था; अतः वीरगाथा काल के समाप्त होते होते इसने अपनी व्यापकता और अपने साम्राज्य का पूर्ण विस्तार किया। कुछ अधिक समय व्यतीत न हो पाया था कि इस भाषा में ग्रंथ आदि लिखे जाने लगे। पर इन ग्रंथों की भाषा विशुद्ध अथवा परिमार्जित नहीं हो सकी थी। अभी साहित्य की भाषा का स्वरूप अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित था। परंतु यह तो

निर्विवाद ही है कि चारण कवियों की अपेक्षा इस समय की भाषा बोलचाल के रूप को अधिक ग्रहण कर रही थी। कबीर की रचनाओं में भाषाओं की एकाधिक प्रकार की खिचड़ी दृष्टिगोचर होती है। इस 'खिचड़ी' मे एक भाग खड़ी बोली का भी है। धीरे धीरे यह बोली केवल बोलचाल तक ही परिमित रह गई, और व्यापक रूप में साहित्य की भाषा अवधी तथा व्रजभाषा निर्धारित हुई।

इधर साहित्य मे इस प्रकार व्रजभाषा का आधिपत्य दृढ़ हुआ; और उधर दिल्ली तथा उसके समीपवर्ती स्थानों में खड़ी बोली केवल बोलचाल ही के काम की बनकर रही। परंतु संयोग पाकर बोलचाल की कोई भाषा साहित्य की भाषा बन सकती है—पहले उसी मे ग्राम्य गीतों की सामान्य रचना होती है। तत्पश्चात् वही विकसित होते होते व्यापक रूप धारण कर सर्वप्रिय हो जाती है। वही अवस्था इस खड़ी बोली की हुई। जब तक यह परिमित परिधि मे पड़ी रही तब तक इसमें ग्राम्य गीतों और अन्य प्रकार की साधारण रचनाओं का ही प्रचलन रहा; पुस्तक आदि लिखने मे उसका आदर उस समय न हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो परिमार्जित होकर व्रजभाषा साहित्य की भाषा बनी और दूसरी ओर यह खड़ी बोली अपने जन्मस्थान के आसपास न केवल बोलचाल की साधारण भाषा के रूप मे प्रयुक्त होती रही, वरन् इसमें पढे-लिखे मुसलमानों द्वारा कुछ पद्य-रचनाएँ भी होने लगीं।

खड़ी बोली का प्राचीनतम प्रामाणिक रूप हमको खुसरो की कविता में मिलता है। इनकी रचना से जो बात स्पष्ट प्रकट

होती है वही इसको प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है कि उनके पूर्व भी कुछ इस प्रकार की रचनाएँ थीं, जो साधारण जनता के मनोविनोद के लिये लिखी गई होंगी। अस्तु; खुसरो की कविता में खड़ी बोली का रूप बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है।—

> एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत।
> बिन परों वह उड़ गया, बांध गले में सूत॥
>
> (गुड्डी)
>
> श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
> दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥
>
> (आरी)

खुसरो की ये ऊपर उद्धृत दोनों पहेलियाँ आजकल की खड़ी बोली के स्पष्ट अनुरूप हैं। वस्तुतः ये जितनी प्राचीन हैं उतनी कदापि नहीं दिखाई पड़तीं। 'कहूँ', 'उड़ गया', 'बाँध', 'और', 'जैसी', 'कहे', इत्यादि रूप इसकी आधुनिकता का द्योतन करने के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना अनुचित न होगा कि खुसरो ने खड़ी बोली की कविता का आदि रूप सामने उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक खड़ी बोली की जड़ जमाई है।

मुसलमानों के इधर उधर फैलने पर खड़ी बोली अपने जन्म-स्थान के बाहर भी शिष्टों की भाषा हो चली। खुसरो के बाद कबीर ने भी इस भाषा को अपनाया। उनका ध्येय जन-साधारण में तत्त्वोपदेश करना था; अतः उस समय की सामान्य भाषा का ही ग्रहण समीचीन था। कबीर ने यही किया भी। यों तो उनकी भाषा खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी)

आदि कई बोलियों का मिश्रण है; परंतु खड़ी बोली का पुट उसमें साफ और अधिक झलकता है। इनकी भाषा में पूरबी-पन का पाया जाना स्वाभाविक है। इनके पूर्व कोई साहित्यिक भाषा संयत रूप मे व्यवस्थित नहीं हुई थी। अभी तक भाषा का संस्कार नहीं हो पाया था। जिस मिश्रित भाषा का आश्रय कबीर ने लिया वही उस काल की प्रामाणिक भाषा थी। उसमें, प्राय: कई प्रांतीय बोलियों की छाप रहने पर भी, हमारी खड़ी बोला की आरंभिक अवस्था का रूप पाया जाता है।

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

घरबारी तो घर मे राजी, फक्कड़ राजी वन मे।
ऐंठी धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'उठा', 'उड़ा, 'से', 'मिला', इत्यादि का आजकल की भाषा से कितना अधिक संबंध है। यह सब कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस समय केवल खड़ी बोली का ही प्राधान्य था। इन अव-तरणों से यही निर्विवाद प्रमाणित होता है कि साहित्य की भाषा से परे बोलचाल की एक साधारण भाषा भी बन गई थी। समय समय पर इस भाषा मे लोग रचनाएँ करते रहे। इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण केवल मनोविनोद की दृष्टि से ही होता था। यह तारतम्य कभी टूटा नहीं। ब्रजभाषा की धारावाहिक प्रगति में स्थान स्थान पर रहीम, सीतल, भूषण, सूदन आदि कवियों की रची हुई खड़ी बोली की फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं; परंतु ब्रज-

भाषा के बाहुल्य में इनका पता नहीं लगता। आज बीसवीं शताब्दी की खड़ी बोली की रचनाओं का इतिहास इस विचार में बहुत प्राचीन है।

काव्य का प्रेम सभी में होता है, चाहे वह हिंदू हो, चाहे अँगरेज हो, चाहे मुसलमान हो। सभी को हृदय होता है, सभी में सरसता होती है और सभी कल्पना के वैभव का अनुभव करते हैं। जिस समय मुसलमान भारतवर्ष में आए उस समय, यह तो स्पष्ट ही है कि, उस भाषा का व्यवहार वे नहीं कर सकते थे, जिसका इतने दिनों से वे अपने आदिम स्थानों मे करते आए थे। यहाँ आने पर स्वभावतः उन्हें अपनी भाषा का स्थान हिंदी को देना पड़ा। अतः जिन्हें साहित्य का निर्माण करना अभीष्ट था उन्होंने ब्रजभाषा और अवधी की शरण ली। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि सूफी कवियों के समुदाय ने हिंदी मे रचना की है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में बड़ी सुंदर और मार्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। इनके श्रमस्वरूप कई ग्रंथ तैयार हुए। इनमे अधिकांश उत्तम और उपादेय हैं। कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, फाजिल शाह प्रभृति ने एक से एक उत्तम रचनाएँ तैयार कीं। इन सरसहृदयों से हिंदी में एक प्रकार का विशेष काव्य तैयार हुआ। इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य रचनाएँ की गई हैं, जो एक से एक उत्तम हैं और जिनमें एक से मनोरंजक चित्र उपस्थित हुए हैं। मलूकदास, रहीम, रसखान, नेवाज इत्यादि ने स्थान स्थान पर कितने हिंदू कवियों से कहीं अधिक मधुर और ओजस्विनी कविताएँ लिखी हैं

जायसी और रसखान प्रभृति कवियों का भाषा पर भी अद्भुत अधिकार था। इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने पर शीघ्रता से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये मुसलमान की लेखनी से उत्पन्न हुई हैं।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि समस्त उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा चली आती थी। मुसलमानों के प्रभाव से शिष्ट वर्ग के बोलचाल की भाषा खड़ी बोली होती जाती थी। इनको, दिल्ली की प्रधानता के कारण, इसी भाषा का आश्रय लेना पड़ा। वे बोलचाल मे, साधारण व्यवहार मे, इसी भाषा का उपयोग करते थे। उनका एक प्रधान दल तो ब्रजभाषा में साहित्य निर्माण करता था और साधारण लोग, जो मनो-विनोद के लिये कुछ तुकबंदियाँ करते थे, बोलचाल की खड़ी बोली का उपयोग करते थे। इन तुकबंदियों के ढाचे, भाषा और भाव आदि सब मे भारतीयता की झलक स्पष्ट देख पड़ती थी। खड़ी बोली का प्रचार केवल उत्तर भारत तक ही परिमित न रहा; वरन् दक्षिण प्रदेशों में भी इसका सम्यक् प्रसार हुआ।

उर्दू के प्रारंभिक काव्यकार अधिकतर दक्षिण के ही थे। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य मे दक्षिण मे कई सुंदर कवि हुए। उनकी कविता देखने से यह भी सिद्ध होता है कि खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण में भी अच्छा हुआ था। उस समय तक उनमें यह धारणा न थी कि उनकी रचनाओं में केवल एक विशेष भाषा की प्रधानता हो। वे प्रचलित बोलचाल की खड़ी बोली को ही अपनी भाषा मानते थे। 'पिया', 'बैराग', 'भभूत', 'जोगी', 'अंग', 'जगत', 'रीति', 'सूँ', 'अखँडियाँ', इत्यादि हिंदी के शब्दों का प्रयोग

वे अधिक करते थे। यदि उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर उर्दू-फ़ारसी और अरबी के शब्द आ जाया करते थे तो यह बिलकुल स्वाभाविक ही था। यदि वे उसे बचाने का प्रयत्न करते तो उनकी रचनाओं में कृत्रिमता आने तथा उनके अस्वाभाविक लगने का भय था। उन कवियों की भाषा का रूप देखिए—

पिया बिन मेरे तईं वैराग भाया है जो होनी हो सो हो जावे।
भभूत अब जोगियों का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जावे॥

—अशरफ़

हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया और दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत की रीत है॥

—सादी

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥

टुक वली को सनम गले से लगा।
खुदनुमाई न कर खुदा से डर॥

तुम अँखडियाँ के देखे आलम खराब होगा।

—शाह वली-अल्लाह

वली साहब दक्षिण से उत्तर भारत मे चले आए। उस समय यहाँ मुहम्मदशाह शासन कर रहा था। वली के दिल्ली में आते ही लोगों में काव्य-प्रेम की धुन आरंभ हुई। इसी कारण प्राय: लोग उर्दू कविता का आरंभ वली से मानते हैं। कुछ दिनों तक तो खड़ी बोली का विशुद्ध रूप में प्रयोग होता

रहा; परंतु जैसे जैसे इन मुसलमान कवियों की वृद्धि होती गई, उनमें अपनापन आता गया और उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में अरबी और फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। संवत् १७६८ से १८३७ के पास तक आते आते हम देखते हैं कि अरबी और फ़ारसी का मेल अधिक हो जाता है। यों तो मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी (सौदा) की रचनाओं में से कोई कोई तो वस्तुतः उसी प्रकार की हैं जैसे कि खुसरो की।—

अजब तरह की है एक नार।
उसका मैं क्या करूँ विचार॥
वह दिन डूबे पी के संग।
लागी रहे निसी के अंग॥

मारे से वह जी उठे बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे हाथों हाथ बिकाय॥

नार, विचार, पी, संग, निसि, अंग, बिन, जग, हाथ, बिकाय इत्यादि शब्दों का कितना विशुद्ध प्रयोग है। इसी प्रकार के शब्द, हम देख चुके हैं कि, अशरफ, सादी और वली की कविता में भी मिलते थे। साधारणतः सौदा के समय में भाषा का यह रूप न था। उस समय तक अरबी और फ़ारसी के शब्दों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था, परंतु सौदा की इन पंक्तियों में हमने स्पष्ट देख लिया कि जो धारा खुसरो और कबीर के समय से निःसृत हुई थी वही इस समय तक बह रही थी।

साहित्य के इतिहास मे प्रायः देखा जाता है कि ९० प्रतिशत भाषाओं में आरंभ कविता की रचनाओं से होता है।

साहित्य का प्राथमिक रूप केवल मधुर व्यंजना पर निर्भर रहता है। उस अवस्था में साहित्य केवल मनो-विनोद की सामग्री समझा जाता है। उस समय यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि काव्य में मानव-जीवन का विश्लेषण अथवा आलोचन हो, और उस समय उसमें जीवन की अनुभूतियों की व्यंजना भी नहीं होती।

लोगों के विचारों का भी प्रस्फुटन उस समय इतना नहीं हुआ रहता कि इतने गूढ़ मनन की ओर ध्यान दिया जाय। इतना ही अलम् समझा जाता है कि भाव-प्रकाशन की विधि कुछ मधुर हो और उसमें कुछ 'लय' हो जिससे साधारणतः गाने का रूप मिल सके। इसी लिये हम देखते हैं कि काव्य में सर्व प्रथम गीत-काव्यों का ही विकास होता है। यही नियम हम खड़ी बोली के विकास में भी पाते हैं। पहले पहेलिकाओं और कहावतों के रूप में काव्य का आरंभ खुसरो से होता है। तदुपरांत क्रमशः आते आते अकबर के समय तक हमें गद्य का रूप किसी न किसी रूप में व्यवहृत होते दिखाई पड़ता है। गंग की लेखनी से यह रूप निकलता है "इतना सुन के पातसाहि जी श्री अकबर साहजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।"

इसी प्रकार गद्य चलता रहा और जहाँगीर के शासन काल में जो हमें जटमल की लिखी 'गोरा बादल की कथा' मिलती है उसमें 'चारन' 'भया' और 'पूरन' ऐसे बिगड़े हुए रूप न मिलकर शुद्ध नमस्कार, सुखी, आनंद आदि तत्सम

शब्द मिलते हैं।—"गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।" "इस गाँव के लोग भी होत सुखी हैं। घर घर में आनंद होता है।" यदि इसी प्रकार खड़ी बोली का विकास होता रहता तो आज हमारा हिंदी साहित्य भी संसार के अन्य साहित्यों की भाँति समृद्ध और भरा-पूरा दिखाई पड़ता। परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उस काल में ब्रजभाषा की प्रधानता थी और विशेष रुचि कल्पना तथा काव्य की ओर थी। लोगों की प्रवृत्ति तथ्यातथ्य के निरूपण की ओर न थी, जिसके लिये गद्य अत्यंत अपेक्षित है। अतः विशेष आवश्यक न था कि गद्य लिखा जाय। दूसरे वह काल विज्ञान के विकास का न था। उस समय लोगों को इस बात की आवश्यकता न थी कि प्रत्येक विषय पर आलोचनात्मक दृष्टि रखें। वैज्ञानिक विषयों का विवेचन साधारणतः पद्य में नहीं हो सकता; उसके लिये गद्य का सहारा चाहिए। तीसरा कारण गद्य के प्रस्फुटित न होने का यह था कि उस समय कोई ऐसा धार्मिक आंदोलन उपस्थित न हुआ जिसमें वाद-विवाद की आवश्यकता पड़ती और जिसके लिये प्रौढ़ गद्य का होना आवश्यक समझा जाता। उस समय न तो महर्षि दयानंद सरीखे धर्म-प्रचारक हुए और न ईसाइयों को ही अपने धर्म के प्रचार की भावना हुई। अन्यथा गद्य का विकास ठीक उसी प्रकार होता जैसा कि आगे चलकर हुआ। किसी भी कारण से हो, गद्य का प्रसार उस समय स्थगित रह गया। काव्य की ही धारा प्रवाहित होती रही और उसके लिये ब्रजभाषा का समतल धरातल अत्यंत अनुकूल था।

ब्रजभाषा में केवल काव्य-रचना होती आई हो, यह बात नहीं है। गद्य भी उसमें लिखा गया था, किंतु नाम मात्र के लिये। संवत् १४०० के आसपास के लिखे बाबा गोरख-नाथ के कुछ ग्रंथों की भाषा सर्व प्राचीन ब्रजभाषा के गद्य का प्रमाण है। उसमें प्राचीनता के परिचायक लक्षणों की भर-मार है। जैसे "स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्हे तो सिषा सबद तो एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस"। इसमें हम अम्हे, तुम्ह, पूछिबा और करिबा आदि में भाषा का आरंभिक रूप देखते हैं यह भाषा कुछ अधिक अस्पष्ट भी नहीं। इसके उपरांत हम श्रीविट्ठलनाथ की वार्ताओं के पास आते हैं। उसमें ब्रजभाषा के गद्य का हमें वह रूप दीख पड़ता है जो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित था। अतः इन वार्ताओं में भी, जो उसी बोलचाल की भाषा मे लिखी गई है, स्थान स्थान पर अरबी और फ़ारसी शब्द आ गए हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक था। यह सब होते हुए भी हमे इन वार्ताओं की भाषा में स्थिरता और भाव-व्यंजना की अच्छी शक्ति दीख पड़ती है। जैसे—"सो श्री नंदगाम में रहते हुते। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढो हुतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हुतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हुतो।"

यदि ब्रजभाषा के ही गद्य का यह रूप स्थिर रखा जाता और इसके भाव-प्रकाशन की शैली तथा व्यंजना-शक्ति का क्रमशः विकास होता रहता तो संभव है कि एक अच्छी शैली का अभ्युदय हो जाता। परंतु ऐसा नहीं हुआ। इसकी दशा सुधरने के बदले बिगड़ती गई। शक्तिहीन हाथों में पड़-

कर इसकी बड़ी दुर्गति हुई। पहली बात तो यह है कि इस गद्य का भी विकसित रूप पीछे कोई नहीं मिलता, और जो मिलता भी है वह इससे अधिक लचर और तथ्यहीन मिलता है। इन वार्ताओं के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। कुछ टीकाकारों की भ्रष्ट और अनियंत्रित टीकाएँ अवश्य मिलती हैं। ये टीकाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि क्रमशः इस गद्य का ह्रास ही होता गया, इसकी अवस्था बिगड़ती गई और इसकी व्यंजनात्मक शक्ति दिन पर दिन नष्ट होती गई। टीकाकार मूल पाठ का स्पष्टीकरण करते ही नहीं थे वरन् उसे और अबोध तथा दुर्गम्य कर देते। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल में चाहे बुद्धि काम कर जाय पर टीका के चक्रव्यूह में से निकलना दुर्घट ही समझिए।

ऊपर कह चुके हैं कि सुलतानों के शासनकाल में ही खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण प्रदेशों में और समस्त उत्तर भारत के शिष्ट समाज में था, परंतु यह प्रचार सम्यक् रूप से नहीं था। अभी तक उत्तर के प्रदेशों में प्रधानता युक्त प्रांत की थी; परंतु जिस समय शाही शासन की अवस्था विच्छिन्न हुई और इन शासकों की दुर्बलता के कारण चारों ओर से उन पर आक्रमण होने लगे उस समय राजनीतिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा। एक ओर से अहमद शाह दुर्रानी की चढ़ाई ने और दूसरी ओर से मराठों ने दिल्ली के शासन को हिलाना आरंभ कर दिया। अभी तक जो सभ्यता और भाषा दिल्ली-आगरा और उनके पासवाले प्रदेशों के व्यवहार मे थी वह इधर उधर फैलने लगी। क्रमशः इसका प्रसार

समस्त उत्तरी प्रांतों में बढ़ चला। इसी समय अँगरेजों का अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अत: दिल्ली और आगरा की प्रधानता अब बिहार और बंगाल की ओर अग्रसर हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह सभ्यता और भाषा जो केवल युक्त प्रांत के पश्चिमी भाग में बँधी थी, धीरे धीरे संपूर्ण युक्त प्रांत, बिहार और बंगाल में फैल गई। इधर मुसलमानों ने अपनी राजधानियाँ बिहार और बंगाल में स्थापित कीं; उधर बंगाल में अँगरेजों की प्रधानता बढ़ ही रही थी। फलत: व्यापार धीरे धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसारित हुआ। इसका प्रभाव भाषा की व्यवस्था पर भी पड़े बिना न रहा। वह खड़ी बोली, जो अब तक पश्चिमी भाग मे ही बँधी थी, समस्त उत्तरी भारत में अब अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुई।

भारतवर्ष मे अँगरेजों के आते ही यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति मे विप्लव उपस्थित हो उठा। राज्य-संस्थापन तथा आधिपत्य-विस्तार की इनकी भावना ने यहाँ के राजनीतिक जगत् में उलट-पुलट उत्पन्न कर दिया। इनके नित्य के संसर्ग ने तथा रेल, तार की नूतन सुविधाओं ने यहाँ के रहन सहन और आचार विचार मे परिवर्तन ला खड़ा किया। इन लोगों के साथ साथ इनका धर्म भी लगा रहा। इनका एक अन्य दल धर्म-प्रचार की चेष्टा कर रहा था। धर्म-प्रवर्तन की इस चेष्टा ने धार्मिक जगत् में एक आंदोलन उपस्थित किया। सब ओर एक साधारण दृष्टि फेरने से एक शब्द में कहा जा सकता है कि अब विज्ञान का युग प्रारंभ हो गया था। लोगों के विचारों में जागर्ति हो

रही थी। उन्हें यह ज्ञात हो चला था कि उनका संबंध केवल उन्हीं के देश, भारतवर्ष, से नहीं है वरन् भारतवर्ष जैसे दूसरे प्रदेश भी हैं; सृष्टि के इस विस्तार से उनका संबंध अविच्छिन्न रहना अनिवार्य है, ऐसी अवस्था में समाज की व्यापकता वृद्धि पाने लगी। इस सामाजिक विकास के साथ ही साथ भाषा की ओर भी ध्यान जाना नितांत स्वाभाविक था। इसी समय यंत्रालयों में मुद्रण-कार्य आरंभ हुआ। इसका प्रभाव नवीन साहित्य के विकास पर अधिक पड़ा। इस प्रकार विचारों के सामाजिक आदान-प्रदान का रूप स्थिर हुआ।

इस समय तक जो साहित्य प्रचलित था वह केवल पद्य-मय था। जो धारा ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दियों में प्रवाहित हुई थी वह आज तक अप्रतिहत रूप में चली आ रही थी। एक समय था, जब कि यह प्रगति सफलता के उच्च-तम शिखर पर पहुँच चुकी थी। किंतु अब इसके क्रमागत ह्रास का समय था। इस काल की परिस्थिति इस बात का साक्ष्य देती थी कि अब किसी 'तुलसी','सूर' और 'बिहारी' के होने की संभावना न थी। इस समय में भी कवियों का अभाव नहीं था। ग्रंथों की रचना का क्रम इस समय भी चल रहा था और उनके पाठकों तथा श्रोताओं की कमी भी नहीं थी; किंतु अब यह स्पष्ट भासित होने लगा था कि केवल पद्य-रचना से काम नहीं चलेगा। पद्य-रचना साहित्य का एक अंग विशेष मात्र है, उसके अन्य अंगों की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी, और बिना ऐसा किए उद्धार होने का नहीं। वाद विवाद, धर्मोपदेश और तथ्यातथ्य निरूपण के लिये पद्य अनुपयोगी है, यह लोगों की समझ में आने लगा। इन

बातों के लिये गद्य की शरण लेनी पड़ेगी—यह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा।

किसी काल-विशेष को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है उन्हें वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। उसके लिये किसी व्यक्ति-विशेष किंवा जाति-विशेष को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जब कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है तब उसकी पूर्ति के साधन भी अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। यही अवस्था इस समय गद्य के विकास की भी हुई। यदि इस काल-विशेष को गद्य-रचना की आवश्यकता पड़ी तो साधन सामने ही थे। विचारणीय विषय यह था कि इस समय व्रजभाषा के गद्य का पुनरुद्धार करना समीचीन होगा अथवा शिष्ट समाज में प्रचलित खड़ी बोली के गद्य का। आधार स्वरूप दोनों का भांडार एक ही सा दरिद्र था। दोनों में ही संचित द्रव्य—लेख-सामग्री—बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध था। व्रजभाषा के गद्य में यदि टीकाओं की गद्य-शृंखला को लेते हैं तो उसकी अवस्था कुल मिलाकर नहीं के बराबर हो जाती है। कहा जा चुका है कि इन टीकाओं की भाषा इतनी लचर, अनियंत्रित और अस्पष्ट थी कि उसका ग्रहण नहीं हो सकता था। उसमें अशक्तता इतनी अधिक मात्रा में थी कि भाव प्रकाशन तक उससे भली भाँति नहीं हो सकता था।

खड़ी बोली की अवस्था ठीक इसके विपरीत थी। आधार-स्वरूप उसका भी कोई इतिहास न रहा हो, यह दूसरी बात है; परंतु जन साधारण उस समय इसके रूप से इतना परिचित और हिला मिला था कि इसे अपनाने में उसे किसी प्रकार का संकोच न था। दिन रात लोग बोलचाल में इसी का

व्यवहार करते थे। किसी प्रकार के भाव-व्यंजन में उन्हें कुछ अड़चन नहीं पड़ती थी। एक दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि नवागंतुक अँगरेज नित्य बोलचाल की भाषा सुनते सुनते उसी के अभ्यस्त हो गए। अब उनके सम्मुख दूर-स्थित ब्रजभाषा का गद्य 'एक नवीन जंतु' था। अतएव उनकी प्रवृत्ति भी उस ओर सहानुभूति-शून्य सी थी। अँगरेज़ों के ही समान मुसलमान भी उसे नहीं पसंद करते थे; क्योंकि आरंभ से ही वे खड़ी बोली के साथ संबद्ध थे। यदि इस समय भी ब्रजभाषा के गद्य के प्रचार की चेष्टा की जाती तो, संभव है, इंशा अल्लाखाँ न हुए होते। एक और प्रश्न लोक-रुचि का भी था। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह सरलता की ओर अधिक आकृष्ट होता है। जिस ओर उसे कष्ट और असुविधा की कम आशंका रहती है उसी ओर वह चलता है। इस दृष्टि से भी जब विचार किया गया होगा तब यही निश्चित हुआ होगा कि अँगरेज तथा उस समय के पढे लिखे हिंदू-मुसलमान सभी खड़ी बोली को ही स्वीकार कर सकते हैं। उसी मे सबको सरलता रहेगी और वही शीघ्रता से व्यापक बन सकेगी। सारांश यह कि खड़ी बोली को स्थान देने के कई कारण प्रस्तुत थे।

किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में एक अवस्था-विशेष ऐसी रहती है कि साधारण वस्तु को ही लेकर चलना पड़ता है। उस समय न तो भाषा मे भाव-प्रकाशन की बलिष्ठ शक्ति रहती है और न लेखकों में ही व्यंजना-शक्ति का सम्यक् प्रादुर्भाव हुआ रहता है। अतः यह स्वाभाविक है कि गद्य साहित्य का समारंभ कथा कहानी से हो। उस समय साहित्योन्नति

के समारंभ का कारण केवल मनोविनोद ही होता है। वह समय उच्च और महत् विचारों के गवेषणा-पूर्ण चिंतन का नहीं होता। उस समय तथ्यातथ्य-विवेचन असंभव होता है। वहाँ तो यही विचार रहता है कि किसी प्रकार लोग पठन-पाठन के अभ्यासी हों। यही अवस्था हमारे गद्य के इस विकास-काल में थी।

यहाँ हमें इंशा अल्लाखाँ और मुंशी सदासुखलाल दिखाई पड़ते हैं। एक कहानी लेकर आते हैं, दूसरे कथा का रूप। इस समय इन दो लेखकों की कृपा से दो समाजों को पढ़ने का कुछ उपादान, चलती भाषा में, प्राप्त हुआ। धर्म समाज को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मिला और जन साधारण को मन-बहलाव के लिये एक किस्सा। जैसे दोनों के विषय हैं वैसी ही उनकी भाषा भी है। एक में भाषा शांत संचरण करती हुई मिलती है तो दूसरे में उछलकूद का बोलबाला है। मुंशीजी की भाषा में संस्कृत के सुंदर तत्सम शब्दों के साथ पुराना पंडिताऊपन है तो खाँ साहब में अरबी-फ़ारसी के साधारण शब्द-समुदाय के साथ-साथ वाक्य-रचना का ढंग भी मुसलमानी मालूम पड़ता है। नमूने देखिए—

"जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, को बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते है कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए।।"

—मुंशी सदासुखलाल

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ, जातियाँ जो साँसें हैं, उसके

बिन ध्यान सब फाँसे है। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो ?"

—सैयद इंशा अल्लाखाँ

"बात होय, को (कोई के लिये), हेतु, तात्पर्य इसका.........है" इत्यादि पद मुंशीजी में पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। आजकल भी कथा-वाचकों में और साहित्य का ज्ञान न रखनेवाले कोरे संस्कृत के अन्य पंडितों में इस प्रकार की व्यंजनात्मक परिपाटी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें आवता, जावता इत्यादि का प्रयोग भी बहुलता से मिलता है। इसी पंडिताऊपन का रूप हमें स्वर्गीय पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास की रचना में भी मिलता है। मुंशीजी के समय में यह उतना बड़ा दोष नहीं माना जा सकता था जितना व्यासजी के काल में। अस्तु, इन संस्कार-जनित दोषों को छोड़कर इनकी रचना में हमें आगम का चित्र स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। 'तात्पर्य', 'सत्तोवृत्ति', 'प्राप्त', 'स्वरूप' इत्यादि संस्कृत के तत्सम शब्दों के उचित प्रयोग भाषा के परिमार्जित होने की आशा दिखाते हैं। रचना के साधारण स्वरूप को देखने से एक प्रकार की स्थिरता और गंभीरता की झलक दिखाई पड़ती है। यह स्पष्ट आशा हो जाती है कि एक दिन आ सकता है जब मार्मिक विषयों की विवेचना सरलता से होगी।

उद्भावना-शक्ति के विचार से जब हम खाँ साहब की कृति को देखते हैं तब निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उनका विषय एक नवीन आयोजन था। उनकी कथा का आधार नहीं था। मुंशीजी का कार्य इस विचार से सरल था।

खाँ साहब को अपनी इस नवीनता में बड़ी सफलता मिली। कथा का निर्वाह संगठित और क्रम-बद्ध है। भाषा चमत्कार-पूर्ण और आकर्षक है। उसमें अच्छा चलतापन है। यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार की भाषा गूढ़ विषयों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। इसमें चटक मटक इतनी है कि पढ़ते पढ़ते एक मीठी हँसी आ ही जाती है। यही शैली क्रमशः विकसित होकर पंडित पद्मसिंहजी शर्मा की भाषा में मौजूद है। इस शैली की भाषा में धींगा-धींगी तो सफलता के साथ हो सकती है; किंतु गूढ़ गवेषणा को उसमें कोई स्थान नहीं प्राप्त हो सकता। इसके अतिरिक्त इनमें तुक लगाते चलने की धुन भी विलक्षण थी। इसी का परिवर्द्धित रूप लल्लूजीलाल की रचना में भी मिलता है। अभी तक साहित्य केवल पद्यमय था। अतः सभी के कान श्रुतिमधुर तुकांतों की ओर आकृष्ट होते थे। "हम सबको बनाया, कर दिखाया, किसी ने न पाया" में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कृदंत और विशेषण के प्रयोग में 'वचन' का विचार रखना एक प्राचीन परिपाटी या परंपरागत रूढ़ि थी जो कि अपभ्रंश काल में तो प्रचलित थी, परंतु खाँ साहब के कुछ पूर्व तक इधर नहीं मिलती थी। अकस्मात् इनकी रचना में फिर वह रूप दिखाई पड़ा। ऊपर दिए हुए अवतरण के 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं' में यह बात स्पष्ट है। वास्तव में इस समय 'आती जाती' लिखा जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त इनकी रचना में कहावतों का सुंदर उपयोग और निर्वाह पाया जाता है। यह भाषा मुसलमानों के उपयोग में सैकड़ों वर्ष

से आ रही थी। अतः उनके लिये वह एक प्रकार से परिमार्जित हो चुकी थी। उनके लिये कहावतों का सुंदर प्रयोग करना कोई बड़ी बात न थी। इनकी वाक्य-योजना में फ़ारसी का ढंग है। 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने' मे रूप ही उलटा है। इसी को पंडित सदल मिश्र ने लिखा है—'सकल सिद्धिदायक वो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ।' क्रिया का वाक्य के अंत में रहना समीचीन है।

सारांश यह कि इंशा अल्लाखाँ की भाषा शैली उर्दू ढंग की है और उस समय के सभी लेखकों में यह "सब से चटकीली मटकीली मुहाविरेदार और चलती" है, परंतु यह मान लेना भ्रमात्मक है कि खाँ साहब की शैली उच्च गद्य के लिये उपयुक्त है। इस ओर स्वतः लेखक की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। वह लिखते समय हाव भाव कूद फाँद और लपक झपक दिखाना चाहता है। ऐसी अवस्था में गंभीरता का निर्वाह कठिन हो जाता है। उसने फड़कती हुई भाषा का बड़ा सुंदर रूप लेखक ने सामने रखा है, यही कारण है जो तात्त्विक विषयों का पर्यालोचन इसकी भाषा मे नहीं किया जा सकता। हाँ यह बात अवश्य है कि खाँ साहब ने अपने विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग किया है। उसमें लेखक का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। उछलती हुई भाषा का वह बहुत ही आकर्षक रूप है।

जिस समय इधर मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशा अल्लाखाँ अपनी वृत्तियों को लेकर साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय उधर कलकत्ते में गिलक्रिस्ट साहब भी गद्य के निर्माण में सहायक हुए। फोर्ट विलियम कालेज की

अध्यक्षता में लल्लूजीलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। लल्लूजीलाल के लिये चतुर्भुज-दास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासि-केतोपाख्यान प्राप्त था। दोनों को वस्तुनिर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी। पुराने ढाँचे पर इमारत खड़ी करना अधिक कुश-लता का परिचायक नहीं है। इस दृष्टि से इंशा अल्लाखाँ का कार्य सबसे दुरूह था। खाँ साहब और मुंशीजी ने स्वान्त:-सुखाय रचना की और लल्लूजीलाल और मिश्रजी ने केवल दूसरों के उत्साह से ग्रंथ निर्माण किए।

लल्लूजीलाल की भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं दिखाई पड़ती। उस समय तक गद्य का जो विकास हो चुका था उसकी आभा इनकी शैली में नहीं दिखाई पड़ती। भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का पूर्ण अभाव है। शब्दचयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें अधिक हुआ है। परंतु इन शब्दों का रूप विकृत भी यथेष्ट हुआ है। देशज शब्द स्थान स्थान पर विचित्र ही मिलते हैं। अरबी फ़ारसी की शब्दावली का व्यवहार नहीं हुआ है। अपवाद स्वरूप संभव है कहीं कोई विदेशी शब्द आ गया हो। इनकी भाषा सानुप्रास और तुकांतपूर्ण है। उदाहरण देखिए—

"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और विरही की पीर हरते। आगे पान की मिठाई, मोती माल की शीतलाई और दीपज्योति की मंदताई देख एक बार तो सब द्वार मूँद ऊषा बहुत घबराय घर में आय अति प्यार कर प्रिय को कंठ लगाय लेटी।"

इस प्रकार की भाषा कथावार्ताओं में ही प्रयुक्त की जा सकती है। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोजनीय था वह इन्होंने नहीं खड़ा किया। इनकी भाषा अधिकांश शिथिल है। स्थान स्थान पर ऐसे वाक्यांश आए हैं जिनका संबंध आगे पीछे के वाक्यों से बिलकुल नहीं मिलता। इन सब दोषों के रहते हुए भी इनकी भाषा बड़ी मधुर हुई। स्थान स्थान पर वर्णनात्मक चित्र बड़े सुंदर हैं। यदि लल्लूजीलाल भी सदल मिश्र की भाँति भाषा को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने देते तो संभव है उनकी प्राचीनता इतनी न खटकती, और कुछ दोषों का परिमार्जन भी इस प्रकार हो जाता। अरबी फ़ारसी के लटकों से बचने में इनकी भाषा मुहाविरेदार और आकर्षक नहीं हो सकी और उसमें अधिक तोड़ मरोड़ करना पड़ा।

लल्लूजीलाल के साथी सदल मिश्र की भाषा व्यावहारिक है। इसमें न तो ब्रजभाषा का अनुकरण है और न तुकांत का लटका। इन्होंने अरबी-फ़ारसी-पन को एक दम अलग नहीं किया। इसका परिणाम बुरा नहीं हुआ, क्योंकि इससे भाषा में मुहाविरों का निर्वाह सफलता के साथ हो सका है और कुछ आकर्षण तथा रोचकता भी आ गई है। वाक्यों के संगठन में खाँ साहब की उलट फेरवाली प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। 'जलविहार हैं करते' 'उत्तम गति को हैं पहुँचते' 'अबही हुआ है क्या' इत्यादि में वही धुन दिखाई देती है। इस में स्थान स्थान पर वाक्य असंपूर्ण अवस्था में ही छोड़ दिए गए हैं। अंतिम क्रिया का पता नहीं है। जैसे 'जहाँ देखो तहाँ देवकन्या सब गातीं'। साधारणत: देखने से भाषा असंयत ज्ञात होती है। 'और' के लिये 'औ' तथा 'वो' दोनों

रूप मिलते हैं। बहुवचनरूप भी दो प्रकार के मिलते हैं। 'काजन' 'हाथन' 'सहस्त्रन' और 'कोटिन्ह' 'मोतिन्ह' 'फूलन्ह' 'बहुतेरन्ह' इत्यादि। मुंशी सदासुखलाल की भाँति इनमें भी पंडिताऊपन मिलता है। 'जाननिहारा' 'आवता' 'करनहारा' 'रहे' (थे के लिये) 'जैसी आज्ञा करिये' 'आवने' इत्यादि इसी के संबोधक हैं। एक ही शब्द दो रूपों में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ 'कदही' भी मिलता है और 'कधी', 'नहीं' के स्थान में सदैव न लिखा गया है। मिश्रजी कलकत्ते में तो रहते ही थे; इसी कारण उनकी भाषा में बँगला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है 'गाछ'—'काँदना' बँगला भाषा के शब्द हैं 'सो मैं नहीं सकता हूँ' में बँगलापन स्पष्ट है। 'जहाँ कि' को सर्वत्र 'कि जहाँ' लिखा है।

यों तो मिश्रजी की भाषा अव्यवस्थित और अनियंत्रित है और उसमें एकरूपता का अभाव है; परंतु उसमें भाव-प्रकाशन की पद्धति सुंदर और आकर्षक है। तत्सम शब्दों का अच्छा प्रयोग होते हुए भी उसमें तद्भव और प्रांतिक शब्दों की भरमार है। सभी स्थलों पर भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं तो उसका सुचारु और संयत रूप दिखाई पड़ता है, पर कहीं कहीं अशक्त और भद्दा। ऐसी अवस्था में इनकी भाषा को 'गठीली' और 'परिमार्जित' कहना युक्तिसंगत नहीं है। एकस्वरता का विचार अधिक रखना चाहिए। इस विचार से इनकी भाषा को देखने पर निराश होना पड़ेगा; परंतु साधारण दृष्टि से वह मुहाविरेदार और व्यावहारिक थी इसमें कोई संदेह नहीं। कहीं कहीं तो इनकी रचना आशा से अधिक संस्कृत दिखाई पड़ती है जैसे—

"इस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कहने लगी कि अरे विधना! तैने यह क्या किया? और बिछुरी हुई हरनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय तक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे ईंधन के लिये वहाँ आ निकले।

ऐसे विशुद्ध स्थल कम हैं। यह भाषा भारतेंदु हरिश्चंद्र के समीप पहुँचती दिखाई पड़ती है। इसमें साहित्य की अच्छी झलक है। भाव-व्यंजन मे भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती। ऐसे समय में जब कि मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र गद्य का निर्माण कर रहे थे, ईसाइयों के दल अपने धर्म का प्रचार करने की धुन मे संलग्न थे। इन लोगों ने देखा कि साधारण जनता जिनके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना अभीष्ट था अधिक पढ़ी लिखी नहीं थी। उसकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी। अतएव इन ईसाई प्रचारकों ने अरबी फ़ारसी मिली हुई भाषा का त्यागकर विशुद्ध खड़ी बोली का ग्रहण किया। उन्होंने उर्दूपन को दूरकर सदासुखलाल और लल्लूजीलाल की ही भाषा को आदर्श माना। इसका भी कारण था। उन्हें विश्वास था कि मुसलमानों में वे अपने मत का प्रचार नहीं कर सकते थे। मुसलमान स्वयं इतने कट्टर और धर्मांध होते हैं कि अपने धर्म के आगे वे दूसरों की नहीं सुनते। इसके सिवा शाही शासकों के प्रभाव से हिंदुओं की साधारण अवस्था शोचनीय थी। वे अधिकांश में दरिद्र थे। अतः आर्थिक प्रलोभन मे पड़कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे। इन अवस्थाओं का विचार करके इन ईसाई प्रचारकों ने खड़ी बोली को ही ग्रहण किया।

उन्हें मालूम था कि साधारण हिंदू जनता, जिसमें उन्हें अपना धर्म फैलाना था, इसी भाषा का व्यवहार करती है।

संवत् १८७५ में जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिंदी भाषा का ही उपयोग हुआ है। इस समय ऐसी अनेक रचनाएँ तैयार हुईं जिनमें साधारणतः ग्रामीण शब्दों को तो स्थान मिला परंतु अरबी फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त नहीं हुए। 'तक' के स्थान पर "लौं", 'वक्त' के स्थान पर 'जून' 'कमरबंद' के लिये 'पटुका' का ही व्यवहार हुआ है। केवल शब्दों का ही परिष्कार नहीं हुआ वरन् इस भाषा में शब्दावली, भावभंगी और ढंग सभी हिंदी—विशुद्ध हिंदी—के थे। एतत्कालीन ईसाई-रचनाओं में भाषा विशुद्ध और परिमार्जित रूप में प्रयुक्त हुई है।

इन ईसाइयों ने स्थान स्थान पर विद्यालय स्थापित किए। इनकी स्थापित पाठशालाओं के लिये पाठ्य पुस्तकें भी सरल परंतु शुद्ध हिंदी में लिखी गईं। कलकत्ते और आगरे में ऐसी संस्थाएँ निश्चित रूप से स्थापित की गईं, जिनका उद्देश्य ही पठन पाठन के योग्य पुस्तकों का निर्माण करना था। इन संस्थाओं ने उस समय हिंदी का बड़ा उपकार किया। राजा शिवप्रसाद प्रभृति हिंदी के उन्नायकों के लिये अनुकूल वातावरण इन्हीं की बदौलत तैयार हुआ। इन ईसाइयों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान और रसायन शास्त्र प्रभृति विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। बाद को प्रकाशित पुस्तकों की भाषा पर्याप्त रूप में परिमार्जित हो गई थी। जैसे—

"भट्ट ने पहले यह बात लिखी है कि देवताओं के कुकर्म सुकर्म हैं क्यों शास्त्र ने इनको सुकर्म ठहराया है। यह सच है परंतु हमारी समझ में इन्हीं बातों से हिंदू शास्त्र झूठे ठहरते हैं। ऐसी बातों में शास्त्र के कहने का कुछ प्रमाण नहीं। जैसे चोर के कहने का प्रमाण नहीं जो चोरी करे फिर कहे कि मैं तो चोर नहीं। पहले अवश्य है कि शास्त्र सुधारे जायें और अच्छे अच्छे प्रमाणों से ठहराया जाय कि यह पुस्तक ईश्वर की है तब इनके पीछे उनके कहने का प्रमाण होगा। यह निश्चय जानो कि यदि ईश्वर अवतार लेता तो ऐसा कुकर्म कभी न करता और अपनी पुस्तक में कभी न लिखता कि कुकर्म सुकर्म है"।

ऊपर का उद्धृत अवतरण संवत् १८०६ में प्रकाशित एक पुस्तक का है। इसकी भाषा से यह स्पष्टतया विदित हो जाता है कि इस समय तक इसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि योग्यता-पूर्वक वाद-विवाद चल सके। इसमें शक्ति दिखाई पड़ती है। यह भाषा लचर नहीं है। इसमें भाषा का व्यवस्थित रूप दिखाई पड़ता है। पूरी पुस्तक इसी शैली में लिखी गई है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस समय तक भाषा में एक-स्वरता अच्छी तरह से आ गई थी। सभी विषयों की छान-बीन इसमें हुई है, अतएव यह कथन अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि इसकी व्यापकता बढ़ रही थी। अब यह केवल कथा कहानी की भाषा न रही, वरन् तथ्यातथ्य-निरूपण, वाद-विवाद और आलोचना की भाषा भी हो चली।

ईसाइयों का प्रचार-कार्य चलता रहा। खंडन मंडन की पुस्तकें विशुद्ध हिंदी भाषा में छपती रहीं। पठन पाठन का कार्य आरंभ हो चुका था। उर्दू पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इन संस्थाओं में पढ़ाने के लिये पुस्तकें भी लिखी जा रही थीं।

इस प्रकार व्यापक रूप में न सही, पर संतोषप्रद रूप में प्रयास किया जा रहा था। इसी समय सरकार ने भी मदरसे स्थापित करने का आयोजन आरंभ किया। नगरों के अतिरिक्त गाँवों में भी पढ़ाने लिखाने की व्यवस्था होने लगी। इन सरकारी मदरसों में अँगरेजी के साथ साथ हिंदी उर्दू को भी स्थान प्राप्त हुआ। यह आरंभ मे ही लिखा जा चुका है कि जिस समय मुसलमान लेखकों ने कुछ लिखना प्रारंभ किया उस समय ब्रजभाषा और अवधी में ही उन लोगों ने अपने अपने काव्यों का प्रणयन किया। इसके बाद कुछ लोगों ने खड़ी बोली में रचनाएँ प्रारंभ कीं। पहले किसी में भी यह धारणा न थी कि इसी हिंदी के ढाँचे में अरबी फ़ारसी की शब्दावली का सम्मिश्रण कर एक नवीन कामचलाऊ भाषा का निर्माण कर लें। परंतु आगे चलकर अरबी फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली में क्रमशः वृद्धि पाने लगा। शब्दों के अतिरिक्त मुहावरे, भावव्यंजना तथा वाक्य-रचना का ढंग भी धीरे धीरे बदल गया। खड़ी बोली के इसी बदले हुए रूप को मुसलमान लोगों ने उर्दू के नाम से प्रतिष्ठित किया। ये लोग कहने लगे कि इस भाषा विशेष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

पहले अदालतों में विशुद्ध फ़ारसी भाषा का प्रयोग होता था। पश्चात् 'सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फ़ारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सब के सामने आया"। वास्तविक खड़ी बोली की प्रगति को इस परिवर्तन से बड़ा व्याघात पहुँचा। अदालत के कार्यकर्त्ताओं के लिये इस नवाविष्कृत गढ़ंत

उर्दू की व्यापकता

भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो गया, क्योंकि इसके बिना उनका रोटी कमाना दुष्कर हो गया। इस विवशता से इस उर्दू कही जानेवाली खिचड़ी भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी। अब एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि सरकारी मदरसों में नियुक्त पाठ्य ग्रंथों का निर्माण किस भाषा में हो, हिंदी खड़ी बोली में हो अथवा अरबी-फ़ारसी-मय नवीन रूपधारिणी उर्दू नाम से पुकारी जानेवाली इस खिचड़ी भाषा में?

राजा शिवप्रसाद

काशी के राजा शिवप्रसाद इस समय शिक्षा-विभाग में निरीक्षक के पद पर नियुक्त थे। वे हिंदी के उन हितैषियों में से थे जो लाख विघ्न, बाधाओं तथा अड़चनों के उपस्थित होने पर भी भाषा के उद्धार के लिये सदैव प्रयत्न-शील रहे। इस हिंदी उर्दू के झगड़े मे राजा साहब ने बड़ा योग दिया। उनकी स्थिति बड़ी विचारणीय थी। उन्होंने देखा कि शिक्षा-विभाग मे मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का स्वतंत्र समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का अवलंबन किया। नीति भी उनके इस कार्य का अनुमोदन करती है। पढ़ने के लिये पुस्तकों का अभाव देखकर राजा साहब ने स्वयं तो लिखना प्रारंभ ही किया, साथ ही अपने मित्रों को भी प्रोत्साहन देकर इस कार्य में संयोजित किया। "राजा साहब जी जान से इस उद्योग में थे कि लिपि देवनागरी हो और भाषा ऐसी मिलीजुली रोजमर्रा की बोल चाल की हो कि किसी दलवाले को एतराज न हो।"

इसी विचार से प्रेरित हो उन्होंने अपनी पहले की लिखी पुस्तकों में भाषा का मिला जुला रूप रक्खा। लोगों का

यह कहना कि "राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल यह साधारण बोलचाल की ओर अधिक झुकती है और उसमें कठिन संस्कृत अथवा फ़ारसी के शब्द नहीं हैं" उनकी संपूर्ण रचनाओं में नहीं चरितार्थ होता। उनकी पहले की भाषा अवश्य मध्यवर्ती मार्ग की थी। इसमें उन्होंने स्थान स्थान पर साधारण उर्दू और फ़ारसी के तथा अरबी के भी शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही संस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों मे आनेवाले तत्सम शब्दों को भी उन्होंने लिया है। इसके अतिरिक्त 'लेवे' ऐसे रूप भी वे रख देते थे। देखिए—"सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह मे मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ"। कुछ दिन लिखने पढ़ने के उपरांत राजा साहब के विचार बदलने लगे और अंत में आते आते वे हमें उस समय के एक कट्टर उर्दू-भक्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस समय उनमें न तो वह मध्यम मार्ग का सिद्धांत ही दिखाई पड़ता है और न विचार ही। उस समय वे निरे उर्दूदाँ बने दिखाई पड़ते हैं। भाव-प्रकाश की विधि, शब्दावली और वाक्य-विन्यास आदि सभी उनके उर्दू ढाँचे में ढले दिखाई पड़ते हैं। जैसे—

"इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अँगरेजी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक दमक और

रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुंतज़िम की अक्लमंदी की गवाही देता है"।

क्या घोर परिवर्तन है! कितना उथल पथल है!! एक शैली पूरब को जाती है तो दूसरी बेलगाम पच्छिम को भागी जा रही है। उपर्युक्त अवतरण में हिंदीपन का आभास ही नहीं मिलता 'न इस बेतर्तीबी से कि' से तथा अन्य स्थान में प्रयुक्त 'तरीका उसका यह रक्खा था' 'दिन दिन बढ़ावें प्रताप उसका' से वही गंध आती है जो पहले इंशाअल्लाह खाँ की वाक्य-रचना मे आती थी। इसके अतिरिक्त उर्दू लेखकों के एक वर्ग के अनुसार वे 'पूँजी हासिल करना चाहिए' ही लिखा करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा साहब 'सितारे-हिंद' से 'सितार-ए-हिंद' बन गए थे।

राजा शिवप्रसाद की इस शैली का विरोध प्रत्यक्ष रूप में राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। ये महाशय यह दिखाना चाहते थे कि बिना मुसलमानी व्यवस्था के भी खड़ी बोली का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से रह सकता है। उनके विचार से "हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी" थीं। इन दोनों का सम्मेलन किसी प्रकार नहीं हो सकता—यही उनकी पक्की धारणा थी। बिना उर्दू के दलदल में फँसे भी हिंदी का बहुत सुंदर गद्य लिखा जा सकता है। इस बात को उन्होंने स्वयं सिद्ध भी कर दिया है। उनके जो दो अनुवाद लिखे गए और छपे हैं उनकी "भाषा सरल, एवं ललित है और उसमें एक विशेषता यह भी है कि अनुवाद शुद्ध हिंदी में किया गया है। यथासाध्य कोई शब्द फ़ारसी अरबी का नहीं

राजा लक्ष्मणसिंह

आने पाया है।" "इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँखें खुलीं"।

पूर्व के लेखकों में भाषा का परिमार्जन नहीं हुआ था। वह आरंभ की अवस्था थी। उस समय न कोई शैली थी और न कोई विशेष उद्देश्य ही था, जो कुछ लिखा गया उसे काल की प्रगति एवं व्यक्ति विशेष की रुचि समझना चाहिए। उस समय तक भाषा का कोई रूप भी निश्चित नहीं हुआ था। न उसमें कोई स्थिरता ही आई थी। उस समय 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' थी। इसके सिवा सितार-ए-हिंद साहब अपनी दोरंगी दुनिया के साथ मैदान में हाजिर हुए। इनकी चाल दोरुखी रही। अत: इनकी इस दोरुखी चाल की वजह से भाषा अव्यवस्थित ही रह गई। उसका कौन सा रूप स्थिर माना जाय, इसका पता लगाना कठिन था।

भाषा के एक निश्चयात्मक रूप का सम्यक् प्रसाद हम राजा लक्ष्मणसिंह की रचना में पाते हैं। कुछ शब्दों के रूप चाहे बेढंगे भले ही हों पर भाषा उनकी एक ढर्रे पर चली है। "मैंने इस दूसरी बार के छापे में अपने जाने सब दोष दूर कर दिये हैं;" तथा "जिन्ने", 'सुन्ने,'' "इस्से", 'उस्से,' "वहाँ जानो कि," "जान्ना," "मान्नी" इत्यादि विलक्षण रूप भी उनकी भाषा में पाए जाते हैं। 'मुझे (मुझमें) यह तो (इतना तो) सामर्थ्य है" "तुझै (तुझको अथवा तुमको) लिवाने" आदि सरीखे प्राचीन रूप भी प्राप्त होते हैं। कहावत के स्थान पर 'कहनावत' का प्रयोग किया गया है। 'अवश्य' सदैव 'आवश्यक' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इतना सब होते हुए भी भाषा अपने स्वाभाविक मार्ग पर चली है।

जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य हमें इनकी रचना में मिलता है उतना इनके पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग आगे किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिये बद्ध-परिकर होने में कुछ भी आगा पीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप रहता। जिस समय इन्होंने यह उत्तर-दायित्व अपने सिर पर लिया वह समय गद्य साहित्य के विकास के परिवर्त्तन का था। उस समय की रंच मात्र की असावधानी भी एक बड़ा अनर्थ कर सकती थी। इनकी रचना मे हमे जो गद्य का निखरा रूप प्राप्त होता है वह एकांत उद्योग और कठिन तपस्या का प्रतिफल है। राजा साहब की भाषा का कुछ नमूना उद्धृत किया जाता है।

"याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिंता ही मे रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रति-पालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।"

इस समय तक हम देख चुके हैं कि गद्य मे दो प्रधान शैलियाँ उपस्थित थीं। एक तो अरबी फारसी के शब्दों से भरी-पुरी खिचड़ी थी जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसादजी थे और दूसरी विशुद्ध हिंदी की शैली थी जिसके समर्थक और उन्नायक राजा लक्ष्मण-

हरिश्चंद्र

सिद्ध थे। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि किस शैली का अनुकरण कर उसकी वृद्धि करनी चाहिए। स्थिति विचारणीय थी। इस उलझन को सुलझाने का भार भारतेंदु हरिश्चंद्र पर पड़ा। बाबू साहब हिंदू मुसलमानों की एकता के इतने एकांत भक्त न थे। वे नहीं चाहते थे कि एकता की सीमा यहाँ तक बढ़ा दी जाय कि हम अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व ही मिटा दें। वे शिवप्रसादजी की उर्दू-मय शैली को देखकर बड़े दुखित होते थे। उनका विचार था कि एक ऐसी परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा का निर्माण हो जो पठित समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर आदर्श का स्थान ग्रहण कर सके। इस विचार से प्रेरित होकर बाबू साहब इस कार्य के संपादन मे आगे बढ़े और घोर उद्योग के पश्चात् अंततो गत्वा उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित रूप दे ही डाला। भारतेंदु के इस अथक उद्योग के पुरस्कार स्वरूप यदि उन्हें 'गद्य का जन्मदाता कहें तो अनुचित न होगा'।

उन्होंने समझ लिया कि एक ऐसे मार्ग का अवलंबन करना समीचीन होगा जिसमें सब प्रकार के लेखकों को सुविधा हो। उन्हें दिखाई पड़ा कि न उर्दू के तत्सम शब्दों से भरी तथा उर्दू वाक्य-रचना-प्रणाली से पूर्ण ही शैली सर्व-मान्य हो सकती है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी-पुरी प्रणाली हो सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। अत: इन दोनों प्रणालियों की मध्यस्थ शैली ही इस कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त होगी। इसमें किसी को असंतोष का कारण न मिलेगा और इसलिये वह सर्वमान्य हो जायगी। अत: उन्होंने इन दोनों शैलियों का सम्यक् संस्कार कर एक अभूत

रचना-प्रणाली का रूप स्थिर किया। यह उसका बहुत ही परिमार्जित और निखरा रूप था। "भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सम्मान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ"। इसी मध्यम मार्ग का सिद्धांत उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। हम यदि केवल इनकी गद्य-शैली के नवीन और स्थिर स्वरूप का ही विचार करें तो "वर्तमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इनको इसका जन्मदाता कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी"। इस मध्यम मार्ग के अवलंबन का फल यह हुआ कि भारतेंदु की साधारणत: सभी रचनाओं में उर्दू के तत्सम शब्दों का व्यवहार नहीं मिलता। अरबी फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं पर बहुत चलते। ऐसे शब्द जहाँ कुछ विकृत रूप में पाए गए वहाँ उसी रूप में रखे गए, राजा शिवप्रसाद की भाँति तत्सम रूप मे नहीं। 'लोहू,' 'कफन,' 'कलेजा', 'जाफत,' 'खजाना,' 'जवाब' के नीचे नुकते का न लगाना ही इस विषय मे प्रमाण है। 'जंगल,' 'मुर्दा,' 'मालूम,' 'हाल,' ऐसे चलते शब्दों का उन्होंने बराबर उपयोग किया है। इधर संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का भी बड़ी सुंदरता से व्यवहार किया गया है। इसमें उन्होंने बोल चाल के व्यावहारिक रूप का विशेष ध्यान रखा है। उनके प्रयुक्त शब्द इतने चलते हैं कि आज भी हम लोग उन्हीं रूपों में उनका प्रयोग अपनी नित्य की भाषा में करते हैं। वे न तो भद्दे ही ज्ञात होते हैं और न उनके प्रयोग में कोई अड़चन ही उपस्थित होती है। 'भलेमानस', 'हिया', 'गुनी', 'आपुस', 'छच्छम', 'जोतसी', 'आँचल', 'जोबन', 'अगनित', 'अचरज' इत्यादि शब्द कितने मधुर हैं, वे कानों को

किंचित् मात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं। इनका प्रयोग भी बड़ी सुंदरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या न्यूनता आ गई हो यह बात भी नहीं है, वरन् इसके विपरीत भाषा और भी व्यावहारिक और मधुर हो गई है। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग भी इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता भी नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच एक ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन आ गया और इसका रूप और भी व्यावहारिक और मधुर हो गया। यह भारतेंदु की नई उद्भावना थी।

लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति और चमक उत्पन्न होती है इसका ध्यान भारतेंदु ने अपनी रचना में बराबर रखा है, क्योंकि इनकी उपयोगिता उनसे छिपी न थी। इनका प्रयोग इतनी मात्रा में हुआ है कि भाषा में बल आ गया है। 'गूँगे का गुड़', 'मुँह देखकर जीना', 'बैरी की छाती ठंढी होना', 'अंधे की लकड़ी', 'कान न दिया जाना', 'झख मारना' इत्यादि मुहावरों का उन्होंने प्रचुरता से प्रयोग किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इतनी शक्तिशालिनी और जीवित होती थी। भाव-व्यंजना में भी इन लोकोक्तियों के द्वारा बहुत कुछ सरलता उत्पन्न हो गई। उनकी लोकोक्तियों में कहीं भी अभद्रता नहीं आने पाई है, जैसा कि हम पंडित प्रतापनारायणजी मिश्र की भाषा में पाते हैं। जहाँ लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है वहाँ शिष्ट और परिमार्जित रूप में, उनमें नागरिकता की झलक सदैव वर्तमान रहती थी।

इन विशेषताओं के साथ साथ उनमें कुछ पंडिताऊपन का भी आभास मिलता है, पर उनकी रचनाओं के विस्तार में इसका कुछ पता नहीं लगता। 'भई' (हुई), 'करके' (कर), 'कहाते हैं' (कहलाते हैं), 'ढको' (ढको), 'सो' (वह), 'होई' (होही), 'सुनै', 'करै' आदि में पंडिताऊपन, अवधीपन या ब्रजभाषापन की झलक भी मिलती है। इस त्रुटि के लिये हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उस समय तक न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप ही। ऐसी अवस्था में इन साधारण विषयों का सम्यक पर्य्यालोचन हो ही कैसे सकता था ? इसके अतिरिक्त कुछ व्याकरण संबंधी भूलें भी उनसे हुई हैं। स्थान स्थान पर 'विद्यानुरागिता' (विद्यानुराग के लिये), 'श्यामताई' (श्यामता) पुल्लिंग में, 'अधीरजमना' (अधीरमना), 'कृपा किया है' (कृपा की है), 'नाना देश में' (नाना देशों में) व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं। इसके लिये भी उनको विशेष दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उस समय तक व्याकरण संबंधी विषयों का विचार हुआ ही न था। इस प्रकार भाषा का परिमार्जन होना आगे के लिये बचा रहा। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने जीवन में इतना लिखना था कि विशेष विचारपूर्वक लिखना नितांत असंभव था। कार्यभार के कारण उनका ध्यान इन साधारण विषयों की ओर नहीं जा सका।

कार्यभार इस बात का था कि अभी तक भाषा साहित्य के कई विषयों का, जो साहित्य के आवश्यक अंग थे, आरंभ तक न हुआ था और उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उन्हें

भाषा साहित्य के सब अंगों पर कुछ कुछ मसाला उपस्थित करना आवश्यक था, क्योंकि अभी तक गद्य साहित्य का विकास इस विचार से हुआ ही न था कि मानव-जीवन के सब प्रकार के भावों का प्रकाशन उसमें हो। अभी तक लिखनेवाले गंभीर मुद्रा ही में बोलते थे। हास्य विनोद के मनोरंजक साहित्य का निर्माण भी समाज के लिये आवश्यक है इस ओर उनके पूर्व के लेखकों का ध्यान ही आकर्षित न हुआ था। "हिंदी लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही पहले पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग्य का पुट दिया।" इस प्रकार रचना का श्रीगणेश कर उन्होंने बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया, क्योंकि इससे भाषा साहित्य में रोचकता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रचुर मात्रा में मिष्टान्नभोजी को मिष्टान्न भक्षण की रुचि को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिये बीच बीच मे चटनी की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार गंभीर भाषा साहित्य की चिरस्थायिता तथा विकास के लिये मनोरंजक साहित्य का निर्माण नितांत आवश्यक है। चटनी के अभाव में जैसे सेर भर मिठाई खानेवाला व्यक्ति आध सेर, ढाई पाव मिठाई खाने पर ही घबड़ा उठता है और भूख रहने पर भी जी के ऊब जाने से वह अपना पूरा भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सदैव गंभीर साहित्य का अध्ययन करते करते जनसमाज का चित्त ऊब उठता है। ऐसी अवस्था में वह 'मनफेर' का सामान न पाकर उससे एक दम संबंध त्याग बैठता है। उसमें एक प्रकार की नीरसता आ जाती है। हास्यप्रधान साहित्य के विकास का ध्यान रखकर ही उन्होंने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ऐसे लेखों का

प्रकाशन किया है। स्वप्न में आपने एक "गगनगत अविद्या-वरुणालय" की स्थापना की। उस अविद्या-वरुणालय की नियमावली सुनाते सुनाते आप हाजरीन जलसह से फरमाते हैं—"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं, वह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर 'नास' लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष कोशिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूँछ लें तब कहेंगे।" भाषा भाव के अनुरूप होती है। उसी प्रकार उसकी प्रकाशन-प्रणाली भी हो जाती है। 'बंधान बाँध देंगे', 'सब मिलकर नास लिया करें', 'घर पूँछ लें', इत्यादि में प्रकाशन-प्रणाली की विचित्रता के अतिरिक्त शब्द-संचयन में भी एक प्रकार का भाव विशेष छिपा है। इसी लिये कहा जाता है कि विषय का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। ठीक यही अवस्था भारतेंदु की उस भाषा की हुई है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने गवेषणापूर्वक मनन किए हुए तथ्यातथ्य निरूपण में किया है। भाव-गांभीर्य के साथ साथ भाषा-गांभीर्य का आ जाना नितांत स्वाभाविक बात है। जब किसी ऐसे मननशील विषय पर उन्हें लिखने की आवश्यकता पड़ी है जिसमें सम्यक् विवेचन अपेक्षित था तब उनकी भाषा भी गंभीर हो गई है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा का घट-

पढापन जाता रहे और उसमें कुछ नीरसता आ जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार की भाषा का प्रमाण हमें उनके उस लेख में मिलता है जो उन्होंने 'नाटक-रचना-प्रणाली' पर लिखा है। उसका थोड़ा सा अंश हम उदाहरणार्थ उद्धृत करते हैं—

"मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है इम लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं, केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना पड़ता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।"

इस लेख की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। तद्भव शब्दों का प्रायः लोप सा है। वाक्य-रचना भी दुरूहता से बरी नहीं है। भारतेंदु की साधारण भाषा से इस लेख की भाषा की भिन्नता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यह भाषा उनकी स्वाभाविक न होकर बनावटी हो गई है। इसमें मध्यम मार्ग का सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी साधारण भाषा में जो व्यावहारिकता मिलती है वह भी इसमें नहीं प्राप्त होती। उनकी अन्य रचनाओं में एक प्रकार की स्निग्धता और चलतापन दिखाई पड़ता है। उनका शब्द-चयन भी सरल और प्रचलित है। जैसे—"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है। कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई

परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घर बार तृण सा छोड़ देता है। अपने अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया कर लिया है, वही उसके जो में गड़ रहा है और उसी के खंडन मंडन में वह जन्म बिताता है।" यही उनकी वास्तविक शैली है। भाषा का कितना परिमार्जित और व्यवस्थित रूप है। इसी में मध्यम मार्ग का अवलंबन स्पष्टत: लक्षित होता है। इसमें भाषा का प्रौढ़ रूप है, वाक्य-रचना भली भाँति गढ़ी हुई और मुहावरेदार है। इसमें आकर्षण भी है और चलतापन भी। छोटे छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उद्धरण से स्पष्ट लग जाता है।

अब हमें साधारण रीति से यह विचार करना है कि उनका भाव-शैली के विकास में कितना हाथ है। कुछ लोगों का यह कहना कि उन्होंने जन साधारण की रुचि एकदम उर्दू की ओर से हटाकर हिंदी की ओर प्रेरित कर दी थी अंशत: भ्रामक है, क्योंकि उन्होंने 'एकदम' नहीं हटाया। सम्यक् विवेचन करने पर यही कहना पड़ता है कि उन्होंने किसी भाषा विशेष का तिरस्कार मध्यम मार्ग का अवलंबन करने पर भी नहीं किया। उन्होंने यही किया कि परिमार्जन एवं शुद्धि करके दूसरे की वस्तु को अपनी बना ली। इसमें वे विशेष कुशल और समर्थ थे। उनके गद्य की एक पुष्ट नींव डालने से अपने आप ही लोगों की प्रवृत्ति राजा शिवप्रसादजी की अरबी फ़ारसी मिश्रित हिंदी लेखन-प्रणाली की ओर से हट गई; और उन्हें विश्वास हो गया कि हिंदी में भी वह ज्योति और जीवन वर्त्तमान है जो अन्यान्य जीवित भाषाओं में दृष्टिगोचर होता है। हाँ उसका उद्योगशील विकास एवं परिमार्जन आवश्यक है। इसके

अतिरिक्त यह कहना कि "गद्यशैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था" ध्रुव सत्य नहीं है। उनका ध्यान इस विषय विशेष की ओर था ही नहीं, अन्यथा यह कोई बड़ी बात नहीं थी। यदि वे केवल इसी के विचार में रहते तो आज ऐसा कहने का अवसर उपस्थित न होता। उनका ध्यान एक साथ इतने अधिक विषयों पर था कि सबका एक सा उतरना असंभव था। स्वभावतः जिन विषयों का अभी उन्हें आरंभ करना था अथवा जिन विषयों पर उन्होंने कम लिखा उन विषयों के उपयुक्त भाषा का सम्यक् निर्धारण वे न कर सके। उनके सामने अच्छे आदर्श भी उपस्थित न थे। फिर अपनी रचना का वे स्वयं तुलनात्मक विवेचन करते इसका उन्हें अवसर ही न था। अतएव उन्हें इसके लिये दोषी ठहराना अन्याय है।

भारतेंदुजी की गद्य-शैली एक नवीन वस्तु थी। इस समय उन्होंने भाषा का एक परिमार्जित और चलता रूप स्थिर किया था। उनका महत्त्व इसी में है कि उन्होंने गद्य-शैली को "अनिश्चितता के कर्दम से निकालकर एक निश्चित दशा में रखा"। इसके लिये एक ऐसे ही शक्तिशाली लेखक की आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति उनकी लेखनी से हुई। भारतेंदु के ही जीवन-काल में कई विषयों पर लिखना आरंभ हो चुका था। उनके समय तक इतिहास, भूगोल, विज्ञान, वेदांत इत्यादि आवश्यक विषयों के कतिपय ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका था। अनेक पत्र पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं। उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि अब

हिंदी भाषा की व्यापकता बढ़ती जा रही थी। उसमें बल आ रहा था। भाव-प्रकाशन में शब्दों की न्यूनता दिन पर दिन दूर होती जा रही थी; किसी भी विषय और ज्ञान विशेष पर लिखते समय भाव-व्यंजन में ऐसी कोई अड़चन नहीं उत्पन्न होती थी जिसका दोष भाषा की निर्बलता को दिया जा सकता। इस समय तक लोगों ने अनेक स्वतंत्र विषयों पर लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्हें आधार विशेष की कोई आवश्यकता न रह गई थी। बाबू हरिश्चंद्र ने भाषा का रूप स्थिर कर दिया था। अब भाषा और गद्य साहित्य के विकास की आवश्यकता थी। ज्ञान का उदय हो चुका था, अब उसे परिचित रूप में लाना रह गया था। इस कार्य का संपादन करने के लिये एक दल भारतेंदुजी की उपस्थिति में ही उत्पन्न हो चुका था। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित बदरी-नारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवास-दास, ठाकुर जगमोहनसिंह प्रभृति लेखक साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हो चुके थे। उस समय के अधिकांश लेखक किसी न किसी पत्र-पत्रिका का संपादन कर रहे थे। इन पत्र-पत्रिकाओं और इन लेखकों की प्रतिभाशाली रचनाओं से भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता आने लगी थी। उस समय जितने लेखक लिख रहे थे उनमें कुछ न कुछ शैली विषयक विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती थी।

यों तो सभी विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जा रहा था। परंतु निबंध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप भट्टजी तथा मिश्रजी ने उपस्थित किया। छोटे छोटे विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार इन लोगों ने लिपिबद्ध किए। इस प्रकार निबंध-रचना

का भी हिंदी गद्य में समारंभ हुआ। इन लोगों के निबंध वास्तव में निबंध की कोटि में आते हैं। पर अभी तक उनमें वैयक्तिक अनुभूति की सम्यक् व्यंजना नहीं होती थी। यह आरंभिक काल था अतः पुष्टता का अभाव रहना स्वाभाविक ही था। रचना का यह प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि पाता गया और अविरत रूप में आज तक चला आ रहा है। क्रमशः अनुभूति, व्यंजना और तर्क का समुच्चय हुआ।

बालकृष्ण भट्ट

जिस समय पंडित बालकृष्ण भट्ट ने लिखना आरंभ किया था उस समय तक लेखन-प्रणाली में तीन प्रकार की भाषाओं का उपयोग होता था—एक तो वह जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसादजी थे और जिसमें उर्दू शब्द तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते थे; दूसरा वह जिसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का संपूर्ण बहिष्कार ही समीचीन माना जाता था और जिसके उन्नायक राजा लक्ष्मणसिंह थे; तीसरा रूप वह था जिसका निर्माण भारतेंदुजी ने किया और जिसमें मध्यम मार्ग का अवलंबन किया जाता था। इसमें शब्द तो उर्दू के भी लिए जाते थे परंतु वे या तो बहुत चलते होते थे या विकृत होकर हिंदी बने हुए। भट्टजी उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रायः करते थे और वह भी तत्सम रूप में। ऐसी अवस्था में हम उन्हें शुद्धिवादियों मे स्थान नहीं दे सकते। कहीं कहीं तो वे हमें राजा शिवप्रसाद के रूप मे मिलते हैं। जैसे—

"मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर माणिक ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं।"

उन्हें भाषा को व्यापक बनाने की विशेष चिंता थी। यह बात उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रकट होती है। अँगरेजी राज्य के साथ साथ अँगरेजी सभ्यता और भाषा का प्राबल्य बढ़ता ही जाता था। उस समय एक नवीन समाज उत्पन्न हो रहा था। अतएव एक ओर तो हिंदी शब्दकोश की अव्यावहारिकता और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहाँ तक उत्साहित किया कि स्थान स्थान पर वे भावद्योतन की सुगमता के विचार से अँगरेजी के शब्द ही उठाकर रख देते थे, जैसे Character, Feeling, Philosophy, Speech आदि। यहीं तक नहीं, कभी कभी शीर्षक तक अँगरेजी के दे देते थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में स्थान स्थान पर पूर्वी ढंग के 'समझाय, बुझाय' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

इस समय के प्रायः सभी लेखकों मे एक बात सामान्य रूप मे पाई जाती है, वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और भट्टजी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्टजी की भाषा मे मिश्रजी की भाषा की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी 'हिंदी भी अपनी ही हिंदी थी'। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी मिश्रजी की ग्रामीणता की झलक उसमे नहीं मिलती। उनका वायुमंडल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती है। मुहावरों का बहुत ही सुंदर प्रयोग हुआ है। स्थान स्थान पर मुहावरों की लड़ी

सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि भाषा में कांति, ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया।

उनके विषय-चयन में भी विशेषता थी। साधारण विषयों पर भी इन्होंने सुदर लेख लिखे हैं, जैसे कान, नाक, आँख, बातचीत इत्यादि। इनकी गृहीत शैली का अच्छा उदाहरण इनके इन लेखों में पाया जाता है। भाषा में दृढ़ता की मात्रा दिखाई पड़ती है। मुहावरों के सुंदर प्रयोग से एक गठन विशेष उत्पन्न हो गई है, जैसे "वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौक़ा है, न लोगों के क़हक़हे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुसकुराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेक़दर हो धक्के खाती फिरती है।"

इसके अतिरिक्त भट्टजी उस गद्य काव्य के निर्माता हैं जिसका प्रचार आजकल बढ़ रहा है। किसी किसी विषय को लेकर पद्यात्मक प्रणाली से गद्य में लिखना आजकल साधारण बात है। परंतु उस समय इस प्रकार लिखने में अधिक विचार करने और बना बनाकर लिखने में समय लगता रहा होगा। भट्टजी ने इस प्रकार के पद्यात्मक गद्यों की भी भाव-पूर्ण रचना की है। इस प्रकार की रचनाओं में काल्पनिक विचारशैली की अत्यंत आवश्यकता पड़ती है। पर कल्पना

की दौड़ में भी हम भट्टजी को किसी से पीछे नहीं देखते। उनके 'चंद्रोदय' और 'आँसू' वाले लेख इसके प्रमाण हैं। जैसे—

कुँई की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से दशो दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निकालते, सीढ़ी पर सीढ़ी शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षपा-तमस्फाणु का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है। उसमें बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानो भौंरे गूंज रहे हैं।

इस प्रकार की भाषा सामान्य भाषा नहीं कही जा सकती, यह उसका गढ़ा हुआ रूप है, अतः विचारवर्द्धक और व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार की रचना के अतिरिक्त इन्होंने भावात्मक लेख भी लिखे हैं; जैसे 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' आदि। इस प्रकार के लेखों में इनकी भाषा संयत एवं सुंदर हुई है। साधारणतः देखने से इनकी प्रबंध-कल्पना बड़ी ही उच्च कोटि की हुई है। भाषा मुहावरे के साथ बड़ी ही रोचक एवं आकर्षक ज्ञात होती है। यों तो इनकी रचनाओं का आकार उतना विस्तृत नहीं है जितना कि भारतेंदु का, पर कई अंशों में इनका कार्य नवीन ही रहा।

भट्टजी का वर्णन उस समय तक समाप्त नहीं कहा जा सकता जब तक पंडित प्रतापनारायण मिश्र का भी वर्णन न हो

प्रतापनारायण मिश्र

जाय। इन दोनों व्यक्तियों ने हिंदी गद्य में एक नवीन आयोजन उपस्थित किया था। उसका स्फुरण भी इन्हीं लोगों ने भली भाँति किया था। मिश्रजी भी भट्टजी की भाँति अच्छे निबंध-लेखक

कहे जा सकते हैं। इन्होंने भी 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत' इत्यादि साधारण और व्यावहारिक विषयों पर स्वच्छंद विचार किया है। इस प्रकार के विषयों पर लिखने से बड़ा ही उपकार हुआ। नित्य व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं पर भी कुछ तथ्य की बातें कही जा सकती हैं, इसका बड़ा ही सुंदर और आदर्श रूप इन छोटे छोटे निबंधों से प्राप्त होता है। उनके इस प्रकार के विषयों पर अधिक लिखने से कुछ लोगों की यह धारणा कि 'उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही और उसे अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला' नितांत भ्रमात्मक है; क्योंकि 'मनोयोग', 'स्वार्थ' ऐसे भावात्मक विषयों पर विचारपूर्ण विवेचन करना साधारण बात न थी। यह दूसरी बात है कि इन विषयों पर उन्होंने इतना अधिक न लिखा हो अथवा उतनी भावुक व्यंजना न की हो जितनी कि भट्टजी ने की है। परंतु जो कुछ उन्होंने लिखा है अच्छा लिखा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

हमें उनकी लेखन-प्रणाली में एक विशेष चमत्कार मिलता है। संभव है जिसे लोग 'विदग्ध साहित्य' कहते हैं उसका निर्माण उन्होंने न किया हो परंतु उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि अवश्य थी। उनके लेखों में उनकी निजी छाया सदैव रही है। जैसा उनका स्वभाव था वैसा ही उनका विषय-निर्वाचन भी था। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में आत्मीयता का भाव अधिक मात्रा में रहता था। साधारण विषय को सरल रूप में रखकर वे सुननेवाले का विश्वास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। अभी तक हिंदी

पढ़नेवालों के समाज का सम्यक् प्रसार नहीं हुआ था। उनकी लेखनी के हँसमुख स्वभाव ने एक नवीन पाठक-समूह उत्पन्न किया। उन्होंने भट्टजी के साथ हाथ मिलाकर एक साधारण और व्यावहारिक साहित्य का आविष्कार कर यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं आलोचन के लिये ही नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप में विवेचन संभव है।

भट्टजी के विचारों मे इनके विचारों से एक विषय में घोर विभिन्नता थी। भट्टजी ने भारतेंदु की भाँति नागर साहित्य का निर्माण किया। परंतु ये साधारण जन-समुदाय को नहीं छोड़ना चाहते थे। इस धारणा के निर्वाह के विचार से इन्हें अपने भाव-प्रकाशन के ढंग में भी परिवर्तन करना पड़ा, दिहाती भाषा एवं मुहावरों को भी अपनी रचना में स्थान देना पड़ा। इन प्रयोगों के कारण कहीं कहीं पर अशिष्टता और ग्रामीणता भी आ गई है। पर मिश्रजी अपने उद्देश्य की पूर्ति के सामने इस पर कभी ध्यान ही न देते थे। यों तो इनकी भाषा साधारण मुहावरों के बल पर ही चलती थी। इन मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार का अच्छा समावेश हुआ है। कहीं कहीं तो इनकी झड़ो लग गई है। इसका प्रमाण हमें इस अवतरण में भली भाँति मिलता है—

"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे

भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।" भाषा में मुहावरों का प्रयोग करना तो एक ओर रहा, लेखों के शीर्षक तक पूरे पूरे मुहावरों ही में होते थे। जैसे 'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'मरे का मारै शाह मदार', इत्यादि।

इनकी भाषा का रूप बड़ा अस्थिर था। अपने समय तक की प्रतिष्ठित भाषा का भी ये अनुसरण न कर सके। इस विचार से इनकी शैली बहुत पिछड़ी रह गई। साधारणतः देखने पर इनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूरबीपन झलकता है। 'आनंद लाभ करता है' 'बनाओगे' 'तौ भी' 'बात रही' (थी) 'शरीर भरे की' 'चाय की सहाय से' 'कहाँ तक कहिए' 'हैं कै जने' इत्यादि से भाषा में व्यवस्था एवं परिमार्जन की न्यूनता सूचित होती है। इसके अतिरिक्त इनकी रचना में विराम आदि चिह्नों का अभाव है। इससे शैली मे अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। स्थान स्थान पर तो भाव भी विच्छिन्न दिखाई पड़ते हैं। पढ़ते पढ़ते रुकना पड़ता है। भाव के समझने में बड़ी उलझन उपस्थित हो जाती है। जो विचार विराम आदि चिह्नों के प्रयोग से पाठ्य-सरल बनाए जा सकते हैं वे भी उनकी अनुपस्थिति के कारण अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी के समय तक इन विषयों की कमी नहीं रह गई थी। शैली में स्थिरता एवं परिपक्वता आ चली थी। ऐसी अवस्था में भी इनकी भाषा बड़ी अव्यवस्थित और पुरानी ही रह गई है। जैसे—"पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निंदा की जाय?" यह वाक्य बिलकुल अस्पष्ट है।

भाषा संबंधी इन त्रुटियों के अतिरिक्त व्याकरण संबंधी भूलें इन्होंने बहुत की हैं। इनकी रचना से व्याकरण की अस्थिरता स्पष्ट झलकती है। 'जात्याभिमान' 'उपरोक्त' 'पाँच सात बरस मे' 'भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं' इत्यादि भूलें इनकी रचना में साधारणतः पाई जाती हैं। 'काफिल का (के) कारण' 'हुई' (हैं ही) 'के' (कर) 'मुख के (से) एक वार' इत्यादि असुविधाजनक प्रयोग भी अधिकता से मिलते हैं। इन न्यूनताओं के कारण इनकी भाषा त्रुटिपूर्ण एवं शिथिल रह गई है। परंतु इतना सब होते हुए भी उसमें जो कहने का आकर्षक ढंग है वह बड़ा ही मनोहर ज्ञात होता है, उसमें एक विचित्र बाँकापन मिलता है जो दूसरे लेखकों में नहीं मिलता। इनकी रचना में भट्टजी की भाँति वैयक्तिक छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारण रूप मे भाषा में बड़ी रोचकता है।

'यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हो सबमें नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते है उनके पंडितों से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो चाहे कोई हँसे चाहे धमकावै जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू की लुलू देने में सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़ो खुशामद करो दाँत निकालो पेट दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो किसी भाँति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कचियाने लगैं तो यह मंत्र सुना दो......बस फिर देखना पाँच सात बरस में फारसी छार सी उड़ जायगी। नहीं तौ होता तो परमेश्वर के किए है हम सदा यही कहा करैंगे "पीसैं का चुकरा आवैं का छीता हरन" "घूरे के लत्ता

बिनै कनातन का डौल बाँधै" हमारी भी कोई सुनैगा ? देखें कौन माई का लाल पहले सिर उठाता है ?

इस प्रकार की भाषा मिश्रजी अपनी उन रचनाओं में नहीं प्रयुक्त करते थे जो अधिक विवेचनापूर्ण होती थीं। विरामादि चिह्नों का तथा भावभंगी का तो वही रूप रहता था पर शब्दावली में अंतर होता था। इसके अतिरिक्त भाषा भी भाव के अनुकूल बनकर संयत एवं गंभीर हो जाती थी।

"अकस्मात् जहाँ पढ़ने लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नो चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्व काल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा, तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों की होती है क्योंकि विचार शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।"

भारतेंदु के प्रयास एवं भट्टजी के तथा मिश्रजी के सतत उद्योग से हिंदी का गद्य साहित्य बलिष्ठ हो चला था। उसमें परिपक्वता का आभास आने लगा था, भिन्न प्रकार के विषयों का दिग्दर्शन होने लगा था। इस समय के गद्य की अवस्था उस पक्षि-शावक के समान थी जो अभी स्फुरण शक्ति का संचय कर रहा हो। इसी समय 'प्रेमघन' जी ने एक नवीन रूप धारण किया। भाषा में बल आ ही रहा था। इन्होंने उस

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

बल को दिखाना आरंभ किया। भाषा को सानुप्रास बनाने का बीड़ा उठाना, उसमें अलौकिकता उपस्थित करने का प्रयत्न करना, उसको स्वच्छ और दिव्य बनाए रखने की साधना करना 'प्रेमघन' ही का कार्य था। इसका प्रभाव उनकी भाषा पर यह पड़ा कि वह दुरूह और अव्यावहारिक बनने लगी। अभी इतनी उन्नति होने पर भी भाषा का इतना अच्छा परिमार्जन नहीं हुआ था कि उसमें जटिलता और विद्वत्ता दिखाने का सफल प्रयास किया जा सकता। बड़े बड़े वाक्य लिखना बुरा नहीं। परंतु इनके वाक्यों का प्रस्तार तथा तात्पर्य-बोधन बड़ा दुरूह होता था। कहीं कहीं तो वाक्यों की दुरूहता एवं लंबाई से जी ऊब उठता है। उनमें से एक प्रकार की रुखाई उत्पन्न हो पड़ती है। उनकी यह वाक्य-विशालता केवल गद्य वाक्यात्मक प्रबंधों में ही नहीं आबद्ध रहती थी वरन् साधारण रचनाओं और भूमिका-लेखन तक मे भी दिखाई पड़ती है। जैसे—

"प्रयाग की बीती युक्त प्रांतीय महाप्रदर्शिनी के सुबृहत् आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह स्वतः विश्वविख्यात है। उसमे सहृदय दर्शकों के मनोरंजन और कुतूहलवर्धनार्थ जहाँ अन्य अनेक अद्भुत और अनोखी क्रीड़ा, कौतुक और विनोद के सामग्रियों के प्रस्तुत करने का प्रबंध किया गया था, स्थानिक सुप्रसिद्ध प्राचीन घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य दिखाना भी निश्चित हुआ और उसके प्रबंध का भार नाट्यकला में परम प्रवीण प्रयाग युनिवर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुत मिस्टर आर० के० सोराबजी एम० ए० बैरिस्टर-ऐट-ला को सौंपा गया, जिन्होंने अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को छाँट और उन्हें एक रूपक के रूप में ला सुविशाल

समारोह के सहित उनकी लीला (पेजेंट) दिखाने के अभिप्राय से कथा प्रबंध रचना में कुछ भाग का तो स्वयं निर्माण करना एवं कुछ में औरों से सहायता लेनी स्थिर कर उनपर उसका भार अर्पण किया।"

जिस समय बड़हर की रानी का कोर्ट आफ वार्ड्स छूटा था उसका समाचार इन्होंने यों प्रकाशित किया था—

"दिव्य देवी श्रीमहारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर काल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

कितनी साधारण सी बात थी परंतु उसका इतना तूल इस प्रकार की रचना में संभव है। यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि भाषा हथौड़ा लेकर बड़ी देर तक गढ़ी गई है। लिखने-वाले का अभ्यास बढ़ जाने पर इस प्रकार भाव प्रकाशन में उसे विशेष असुविधा तो नहीं रह जाती, परंतु उसकी रचना साधारणतः अव्यावहारिक सी हो जाती है। चौधरीजी की भाषा इस विषय में प्रमाण मानी जा सकती है। भारतेंदु की चमत्कार रहित एवं व्यावहारिक शैली के ठीक विपरीत यह शैली है। इसमें चमत्कार एवं आलंकारिकता का विशेष भाग पाया जाता है। किसी साधारण विषय को भी बढ़ा चढ़ाकर लिखना इसमें अभीष्ट होता है। इस प्रकार इसकी स्वाभाविकता का क्रमागत ह्रास होता है और चलतापन नष्ट हो जाता है।

यों तो प्रेमघनजी की रचना में भी "आन पड़ा", 'कराकर' 'तो भी' इत्यादि मिलता है परंतु भाषा का जितना पुष्ट रूप

उसमें दिखाई पड़ता है वह स्तुत्य है। उन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने में सोद्देश्य चेष्टा की। इसके अतिरिक्त कभी कभी अवसर पड़ने पर उन्होंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन्हीं लेखों को हम आलोचनात्मक साहित्य का एक प्रकार से आरंभ कह सकते हैं। यों तो उन लेखों की भाषा आलोचना की भाषा नहीं होती थी फिर भी उनमें विषय विशेष का प्रवेश मिलता है।

धीरे धीरे उर्दू की तत्समता का ह्रास और संस्कृत की तत्समता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पंडित बदरीनारायण चौधरी की रचना में उर्दू की संतोषजनक कमी थी परंतु लाला श्रीनिवासदास में उर्दू तत्समता भी अच्छी मिलती है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राजा शिवप्रसादजी की भाँति इसमें उर्दू का प्राबल्य था। अब उर्दू ढंग की वाक्य-रचना प्रायः लुप्त हो रही थी। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी दिन पर दिन घटता जाता था। इसके सिवा लालाजी में हमें दोरंगी दुनिया नहीं दिखाई पड़ती, जैसी पंडित बालकृष्ण भट्ट की रचना में थी। इनकी भाषा संयत, सुबोध और दृढ़ थी। यों तो इनके उपन्यास—परीक्षा-गुरु—और नाटकों की भाषाओं में अंतर है, परंतु वह केवल इतना ही है कि जितना केवल विषय परिवर्तन में प्रायः हो जाता है। नाटकों की भाषा वक्तृता के अनुकूल होती थी और परीक्षा-गुरु की भाषा वर्णनात्मक हुई है। इनमें साधारणतः दिल्ली की प्रांतिकता और पछाहींपन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'इस्की' 'उस्की' और 'उस्से' ही नहीं वरन् 'किस्पर', 'इस्तरह', 'तिस्पर' ऐसे प्रयोग भी पाए जाते

श्रीनिवासदास

हैं। इनके अतिरिक्त ये 'तुम्हो' न लिखकर 'तुमही', 'ठहर' न लिखकर 'ठैर' आदि अधिक लिखा करते थे। विभक्तियों का प्रयोग भी प्रांतिकता से पूर्ण होता था। जैसे—'सै' (से) 'मैं' (में) इत्यादि। इसके उपरांत 'करै' 'देखे पर भी' 'रहैंगे' 'जाँती' 'वहाँ' (वहाँ) 'सुनैं' इत्यादि ब्रज के रूप भी स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं। 'ब' और 'व' के उपयोग का तो इन्हें कुछ विचार ही न था। किसी किसी शब्द को भी ये शायद भ्रमवश अशुद्ध ही लिखा करते थे। जैसे 'धैर्य' के लिये 'धीर्य या धीर्य्य' तथा 'शांत' के अर्थ मे 'शांति' का प्रयोग प्रचुरता से करते थे। इसके अतिरिक्त व्याकरण संबंधी साधारण भूलों का होना तो उस समय की एक विशेषता थी। जैसे "पृथ्वीराज—(संयोगिता से) प्यारी! तुम ही मेरा वैभव और तुमही मेरे सर्वस्व हो।" "छत्तीस वर्ष में," ऐसे प्रयोग स्थान स्थान पर बराबर मिलते हैं। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी भाषा मे संयम दिखाई पड़ता है। परिमार्जन का सुंदर रूप मिलता है। न उछल कूद रहती है और न भद्दा चमत्कार ही। सीधा साधा व्यावहारिक रूप ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की भाषा में उच्च विचारों का भी निदर्शन हो सकता है और सामान्य विषयों का भी। जैसे—

"अब इन वृत्तियों में से जिस वृत्ति के अनुसार मनुष्य करे वह उसी मेल में गिना जाता है। यदि धर्म प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य अच्छा समझा जायगा और निकृष्ट प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य नीच गिना जायगा और इस रीति से भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जायगी, बल्कि अपनी वृत्तियों को पहचान-

कर मनुष्य अपनी परीक्षा भी आप कर सकेगा। राजपाट, धन दौलत, विद्या स्वरूप वंश मर्यादा से भले बुरे मनुष्य की परीक्षा नहीं हो सकती।"

"पृथ्वीराज—(प्रीति से संयोगिता की ओर देखकर) मेरे नयनों के तारे, मेरे हिए के हार, मेरे शरीर का चंदन, मेरे प्राणाधार इस समय इस लोकाचार से क्या प्रयोजन है? जैसे परस्पर के मिलाप में मोतियों के हार भी हृदय के भार मालूम होते है, इसी तरह ये लोकाचार भी इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार हैं। प्यारी! क्षमा करो अब तक तो तुमारे नयनों की बाण-वर्षा से छिन्नकवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला पर अब नहीं सम्हाला जाता।"

जगमोहनसिंह

इस समय के गद्य साहित्य का सुंदर उदाहरण ठाकुर जगमोहनसिंह जी की रचनाओं में प्राप्त होता है। ठाकुर साहब हिंदी साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत एवं अँगरेजी भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इसकी छाप उनकी लेखनी से स्पष्ट झलकती है। उनकी रचनाओं मे न तो पंडित प्रतापनारायण की भाँति विरामादि चिह्नों की अव्यवस्था मिलती है और न लाला श्रीनिवासदास की भाँति मिश्रित भाषा एवं शब्दों के अनियंत्रित रूप ही मिलते हैं। यों तो 'शाचो' 'तुम्हैं समर्पित है' 'जिसै दूँ' 'हम क्या करैं' 'चाहती हौं' और 'धरे हैं' इत्यादि पूर्वी रूप मिलते हैं परंतु फिर भी भाषा का जितना बोधगम्य, स्वाभाविक, तथा परिष्कृत परिमाण हमें इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है उतना साधारणत: सामान्य लेखकों में नहीं मिलता। ठाकुर साहब भी स्थान स्थान पर ठीक वैसी ही गद्य काव्यात्मक भाषा का उपयोग करते थे जैसी कि हमें भट्टजी की

रचना में प्राप्त हुई थी। शैली के विचार से इनकी लेखन-प्रणाली स्पष्ट और अलंकृत होती थी परंतु उसमें 'प्रेमघन' की उलझनवाली वाक्य-रचना नहीं रहती थी। उनकी शैली में तड़क भड़क न होते हुए भी चमत्कार और अनोखापन है जो केवल उन्हीं की वस्तु कही जा सकती है। उसमें एक व्यक्तित्व विशेष की झलक पाई जाती है। संस्कृत-ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपने शब्द-चयन में किया है। शब्दों की सुंदर सजावट से उनकी भाषा में कांति आ गई है। इस कांति के साथ मधुरता एवं संस्कृति का सामंजस्य है। जैसे—

"जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़कर खुजली मिटाते हैं और उनमे से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे घने कि सूर्य के किरणों को भी नहीं निकलने देते इस नदी के तट पर शोभित हैं। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती हैं, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकलकर अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरनी है।"

"लो.... वह श्यामलता थी, यह उसी लता मंडप के मेरे मान-सरोवर की श्यामा सरोजिनी है, इसका पात्र और कोई नहीं जिसे दूँ। हाँ एक भूल हुई कि श्यामा-स्वप्न एक 'प्रेमपात्र' को अर्पित किया गया। पर यदि तुम ध्यान देकर देखो तो वास्तव में भूल नहीं हुई। हम क्या करें तुम आप चाहती हो कि ढोल पिटै; आदि ही से तुमने गुप्तता की रीति एक भी नहीं निबाही, हमारा दोष नहीं तुम्हीं विचारो मन चाहे तो अपनी 'तहरीर' और 'एकबाल' देख लो दफ्तर के दफ्तर

मिसिलबंदी होकर घेरे हैं, अपने कहकर बदल जाने की रीति अधिक थी इसलिए 'प्रेमपात्र' को स्वम समर्पित कर शाखी बनाया, अब कैसे बदलोगी !"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाल्यकाल में ही आर्य-समाज के प्रचार ने हिंदी की गद्य शैली में कई आवश्यक परिवर्तन किए।

आर्य-समाज और स्वामी दयानंद

वास्तव में गद्य के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें इतना बल आ जाय कि वाद-विवाद भली भाँति हो सके, विषय का सम्यक् प्रतिपादन हो सके। यह उसी समय संभव है जब कि भाषा में बल का संचार व्यापक रूप से होने लगे। वाद-विवाद का ही विशद रूप व्याख्यान है, उसमें वाद-विवाद का मननशील एवं संयत आभास रहता है। किसी विषय का सम्यक् गवेषण करने के उपरांत बलिष्ठ और स्पष्ट भाषा में जो विचार-धारा निःसृत होती है उसी का नाम है व्याख्यान। इस धर्म विचार को व्यापक बनाने के लिये जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची उससे हिंदी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस धार्मिक आंदोलन के कारण सारे उत्तरी भारत मे हिंदी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्य-समाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानंदजी ने, गुजराती होने पर भी, हिंदी का ही आश्रय लिया था। इस चुनाव का कारण हिंदी की व्यापकता थी। अस्तु हिंदी के प्रचार के अतिरिक्त जो प्रभाव गद्य शैली पर पड़ा वह अधिक विचारणीय है। व्याख्यान अथवा वाद-विवाद को प्रभावशाली बनाने के लिये एक ही बात को कई बार से घुमा फिराकर कहने की भी आवश्यकता होती है। सुननेवालों पर

इस रीति के भाव-व्यंजन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। इस प्रकार की शैली का प्रभाव हिंदी गद्य पर भी पड़ा और यही कारण है कि गद्य की नित्य भाषा भी इस प्रकार की हो गई—

"क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुघाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है? क्या यही उत्तमता है कि लिखा आलूबुखारा और पढ़ा उल्लू बिचारा, लिखा छुन्नू पढ़ने मे आया फब्बू। अथवा मैं इस विषय पर इतना जोर इसलिये देता हूँ कि आप लोग सोचें समझें विचारें और अपने नित्य के व्यवहार में प्रयोग में लावें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आपमे परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई।"

इसके अतिरिक्त गद्य शैली में जो व्यंग भाषा का रुचिकर रूप दिखाई पड़ता है वह भी इसी धार्मिक आंदोलन का अप्रत्यक्ष परिणाम है। इस आर्य-समाज के प्रतिपादकों को जिस समय भिन्न धर्मावलंबियों से वाद-विवाद करना पड़ता था उस समय ये अपने दिली गुबारों को बड़ी मनोरंजक, आकर्षक तथा व्यंग भाषा मे निकालते थे। यही नहीं, वरन् वाद-विवाद एवं वक्तृताओं के सिलसिले में ये लोग "सीधी, तीव्र और लक्कड़तोड़ भाषा" का प्रयोग करते थे। इन सब विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से उस समय के गद्य-लेखकों पर पड़ा। बालकृष्ण भट्ट प्रभृति लेखकों की रचनाओं में व्याख्यान की भाषा का आभास प्रकट रूप मे दिखाई पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन की भाषा का भी आधार यही वाद-विवाद की भाषा है।

उस समय नाटक अधिक लिखे गए और उन नाटकों के कथोपकथन में जिस भाषा-शैली का प्रयोग हुआ वह यही वाद-विवाद की भाषा-शैली है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इस समय के धार्मिक आंदोलन का जो रूप समस्त उत्तरी भारत में फैला वह हिंदी गद्य-शैली की अभिवृद्धि का बड़ा सहायक हुआ। जिस भाषा-शैली को संयत एवं सुघड़ बनाने के लिये सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होती वह इस आंदोलन के उथल-पुथल में अविलंब ही सुधर गई।

इसी समय गद्य संसार में पंडित गोविंदनारायण मिश्र के समान धुरंधर लेखक प्रादुर्भूत हुए। अभी तक गद्य साहित्य में प्रचंड पांडित्य का प्रदर्शन किसी की शैली में नहीं हुआ था। यों तो पंडित बदरीनारायण चौधरी की भाषा का रूप भी पांडित्यपूर्ण एवं गद्य-काव्यात्मक था, परंतु उनमें उतनी दीर्घ समासांत पदावली नहीं पाई जाती जितनी कि मिश्रजी की रचना में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इनमें गद्य-काव्यात्मकता की इतनी अधिकता है कि स्थान स्थान पर भावनिदर्शन अरुचिकर एवं अस्पष्ट हो गया है। अस्पष्ट वह इस विचार से हो जाता है कि वाक्य के अंत तक आते आते पाठक की स्मरण-शक्ति इतनी भाराकुल हो जाती है कि उसे वाक्यांशों अथवा वाक्यों के संबंध तक का ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार की रचना केवल दर्शनीय और पठनीय ही होती है बोधगम्य नहीं। भाषा के गुण भी इसमें नहीं मिल सकते; क्योंकि इसमें न तो भावों का विनिमय सरलता से हो सकता है और न भाषा बोधगम्य ही होती है। संसार का कोई भी प्राणी इस प्रकार की भाषा में

गोविंदनारायण मिश्र

विचारों का आह्वान प्रदान नहीं करता। स्वतः लेखक को घंटों लग जाते हैं परंतु फिर भी वाक्यों का निर्माण नहीं हो पाता। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का लेखक लिखते लिखते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे इस विधि विशेष से वाक्य-रचना में कुशलता प्राप्त हो जाती है। परंतु इस रचना को न तो हम गद्य काव्य ही कह सकते हैं और न कथन का चमत्कारिक ढंग ही। यह तो भाषा की वास्तविक परिभाषा से कोसों दूर पड़ जाता है। भाषा की उद्बोधन शक्ति एवं उसके व्यावहारिक प्रचलन का इसमें पता ही नहीं लगता। इस प्रकार की रचना का यदि एक ही वाक्य-समूह पढ़ा जाय तो संभव है कि उसकी बाह्य आकृति पांडित्यपूर्ण और सरस ज्ञात हो, परंतु जिस समय उसके भावों के समझने का प्रयत्न किया जायगा उस समय मस्तिष्क के ऊपर इतना बोझ पड़ेगा कि थोड़े ही समय में वह थककर बैठ जायगा। परमात्मा की सदिच्छा थी कि इस प्रकार के पांडित्य प्रदर्शन एवं वाग्जाल की ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं झुकी, अन्यथा भाषा का व्यावहारिक तथा बोधगम्य रूप तो नष्ट हो ही जाता, साथ ही साहित्य के विकास पर भी धक्का लगता। इस प्रकार की भावना अथवा अरुचि का विनाश भी स्वाभाविक ही था; क्योंकि वास्तव में जिस वस्तु का आधार सत्य पर आश्रित नहीं रहता उसका विकास हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि मिश्रजी की शैली का आगे विकास नहीं हो सका। मिश्रजी की रचना की एक झलक यहाँ दिखाई जाती है—

"जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है जहाँ पठित कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्य मात्र का समा-

वेश है, वहाँ जिस समय सुकवि, सुपंडितों के मस्तिष्क सोते के अदृश्य प्रवाह-मय प्रगल्भ प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न कल्पना-कलित अभिनव भाव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस हंसवाहिनी हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसना रूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरव कल कलित अति सुललित प्रबल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों को श्रवणपुटरंध्र की राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्यरस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद-बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द-लहरी-प्रवाह-पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्कार आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है जो जितना मर्मज्ञ है और रसज्ञ है शिक्षा से सुसंस्कृत जिसका मन जितना अधिक सर्वांगसुंदरतासंपन्न है, जिसमें जैसी धारणा शक्ति और बुद्धि है वह तदनुसार ही उससे सारांश ग्रहण तथा रस का आस्वादन भी करता है। अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और संपन्नता के अनुरूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूप का चमकीला प्रतिबिंब भी उसके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधा-वारिद से सब पर सम भाव से खुले जी खुले हाथों सुरस बरसाते हैं, परंतु सुरसिक समाज पुष्प वाटिका किसी प्रांत में पतित ऊसर समान मूसरचंद मंदमति मूर्ख और अरसिकों के मनमरुस्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस बूँदों के भी अंतरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नव रस से भरी बरसात में भी उत्तम प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं। कवि कोविदों की कोमल कल्पना कलिता कमनीय कांति की छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मन पर कैसे पड़ सकती है?"

एक अँगरेजी भाषा के आलोचक ने डाक्टर जानसन की

गद्य-शैली का विवेचन करते हुए लिखा है कि उसमें ऐसी भयंकरता मिलती है मानो मांस के लोथड़े बरस रहे हों। मेरा भी ठीक यही विचार मिश्रजी की शैली के संबंध में है। इनकी शैली में वाक्यों की लंबी दौड़ और तत्सम शब्दों के व्यवहार की बुरी लत के अतिरिक्त इतनी विचित्रता है कि भयंकरता आ जाती है। उपसर्गों के अनुकूल प्रयोग से शब्दार्थों मे विशिष्ट व्यंजना प्रकट होती है परंतु जब वह व्यर्थ का आडंबर बना लिया जाता है तब एक विचित्र भद्दापन प्रकट होने लगता है। जैसे 'पंडित' 'रस' और 'ललित' के साथ 'सु', 'तुल्य' और 'उच्चरित' के साथ 'सम्' लगाकर अजनबी जानवर तैयार करने से भाषा मे अस्वाभाविकता और अव्यावहारिकता बढ़ने के अतिरिक्त और कोई भलाई नहीं उत्पन्न हो सकती। इस संस्कृत की तत्सम शब्दावली तथा समासांत पदावली के बीच बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना मिश्रजी को बड़ा प्रिय लगता था। परंतु तत्समता के प्रकांड तांडव में बेचारे 'राह' 'पहुँच' 'बरसात' 'मूसरचंद' 'बूँद' आदि शब्दों की दुर्गति हो रही है। मिश्रजी सदैव 'सुधा देना' 'अनेकों बेर' और 'यह ही' का प्रयोग करते थे। विभक्तियों को ये केवल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते ही भर न थे प्रत्युत उनका प्रयोग आवश्यकता से अधिक करते थे। इसके फल स्वरूप उनकी रचना शिथिल हो जाती थी। 'भाषा की प्रकृति के बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार की हानि का होना संभव नहीं था' में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'भाषा की प्रकृति बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार हानि होना संभव नहीं था' लिखना कुछ बुरा न होता। "तत्व निर्णय का होना

असंभव समझिए" में यदि 'का' विभक्ति तत्व के साथ लगा दी जाय तो भाव अधिक बोधगम्य हो जायगा।

इस भाँति हम देखते हैं कि मिश्रजी की भाषा चाहे आनुप्रासिक होने के कारण श्रुतिमधुर भले ही लगे परंतु वास्तव में बड़ी अव्यावहारिक एवं बनावटी है। उनके एक एक वाक्य निहाई पर रखकर हथौड़े से गढ़े गए जान पड़ते हैं। इस गद्य-काव्यात्मक कही जानेवाली भाषा के अतिरिक्त मिश्रजी अपने विचार से जो साधारण भाषा लिखते थे वह भी उसी ढंग की होती थी। उसमें भी व्यावहारिकता की मात्रा न्यून ही रहती थी, उत्कृष्ट शब्दावली का प्रयोग और तद्भवता का प्रायः लोप उसमें भी रहता था। भाव-व्यंजना में भी सरलता नहीं रहती थी। डाक्टर जानसन की grand eloquent snoquipidalian phraseology का आनंद हिंदी गद्य में मिश्रजी की ही शैली में मिलता है। जब वे साधारण वाद-विवाद के आलोचनात्मक विषय पर भी लिखते थे उस समय भी उनकी भाषा और शैली उसी कोटि की होती थी। उनकी साधारण विचार-विवेचना के लिये भी गवेषणात्मक भाषा ही आवश्यक रहती थी। जैसे—

"साहित्य का परम सुंदर लेख लिखनेवाला यदि व्याकरण में पूर्ण अभिज्ञ न होगा तो उससे व्याकरण की अनेकों अशुद्धियाँ अवश्य होंगी। वैसे ही उत्तम वैयाकरण व्याकरण से विशुद्ध लेख लिखने पर भी अलंकार-शास्त्रों के दूषणों से अपना पीछा नहीं छोड़ा सकता है। अलंकार-भूषित साहित्य-रचना की शैली स्वतंत्र है। इसकी अभिज्ञता उपार्जन करने के शास्त्र भिन्न हैं जिनके परमोत्तम विचार में व्याकरण का अशुद्धि-विशिष्ट लेख भी साहित्य में सर्वोत्तम माना

जाता है। सारांश यह कि अत्यंत सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं उसमें एक विषय की योग्यता वा पांडित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परंतु अभागी हिंदी के भाग्य मे इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचारपत्रों मे स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्तव्य समझा और जिनके बहुत से लेख प्रकाशित हो चुके है, सर्व साधारण मे इस समय वे सब के सब हिंदी के भाग्य-विधाता और सब विषयों के ही सुपंडित माने जाते हैं। मै इस भेड़ियाधसान को हिंदी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्टोत्पादक समझता हूँ। अनधिकार चर्चा करनेवाले से बात बात में भ्रम प्रमाद संघटित होते हैं। नामी लेखकों के भ्रम से अशिक्षित समुदाय की ज्ञानोन्नति की राह मे विशेष प्रतिबाधक पड़ जाते है। यह ही कारण है कि तत्वदर्शी विज्ञ पुरुष अपने भ्रम का परिज्ञान होते ही उसे प्रकाशित कर सर्व साधारण का परमोपकार करने से क्षणमात्र भी विलंब नहीं करते, बल्कि विलंब करने को महा पाप समझते हैं।''

यह मिश्रजी की आलोचनात्मक भाषा का उदाहरण है। इसमे भी गुणवाची शब्दों एवं उपसर्गों की भरमार है। इसमें भी उन्होंने किसी बात को साधारण ढंग से न कहकर अपने द्रविड़ प्राणायाम का ही अवलंबन किया है। ''अपने लेख छपाए'' के स्थान पर ''समाचारपत्रों मे स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना अपना कर्तव्य समझा'' लिखना ही वे लिखना समझते थे। किसी विषय को साधारण रूप में कहना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगता था। नित्य की बोलचाल में वे असाधारण शब्दावली का प्रयोग करते थे। मैं तो जब

उनसे मिलता और बात चीत करने का अवसर पाता तो सदैव उनकी बातें सचेष्ट होकर सुनता था क्योंकि मुझे इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं कुछ समझने में भूल कर अंडबंड उत्तर न दे दूँ। अस्तु, भाषा की दुरूहता तथा विचित्रता को एक ओर रखकर हमें यह मानने में कोई विवाद नहीं है कि मिश्रजी ने व्याकरण संबंधी नियमन में बड़ा उद्योग किया था। यही तो समय था जब कि लोगों का ध्यान व्याकरण के औचित्य की ओर खिंच रहा था और अपनी भाषा संबंधी त्रुटियों पर विचार करना आरंभ हो रहा था। इन्होंने विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखने का प्रतिपादन किया और स्वयं उसी प्रणाली का अनुसरण किया।

बालमुकुंद गुप्त

मिश्रजी के ठीक उलटे बाबू बालमुकुंद गुप्त थे। एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपने समासांत पदों और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्य-विस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यों मे अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़ प्राणायामी विधान से लोगों को व्यस्त कर दिया, दूसरे ने रचना-प्रणाली द्वारा अखबारी दुनिया में वह मुहावरेदानी दिखाई कि पढ़नेवालों के उमड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। एक को सुनकर लोगों ने कहना शुरू किया "बस करो! बस करो।" दूसरे को सुनते ही "क्या खूब! भाई जीते रहो!! शाबाश!!!" की

आवाजें आने लगीं। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्द-मय जगत् रचना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिक सत्ता का आभास देना चाहता था।

गुप्तजी कई वर्षों तक उर्दू समाचारपत्र का संपादन कर चुके थे। वे उर्दू भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने भाषा को रुचि-पूर्ण बनाना भली भाँति सीख लिया था। मुहावरों का सुंदर और उपयुक्त प्रयोग वे अच्छी तरह जानते थे। नित्य समा-चारपत्र की चलती भाषा लिखते लिखते इन्हें इस विषय में स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त हो गया था कि छोटे छोटे वाक्यों में किस प्रकार भावों का निदर्शन हो सकता है। बीच बीच मे मुहावरों के व्यापक प्रयोग से भाषा में किस प्रकार जान डालनी होती है यह भी वे भली भांति जानते थे। यों तो उनकी रचना में स्थान स्थान पर उर्दू की अभिज्ञता की झलक स्पष्ट पाई जाती है, पर वह किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं है; क्योंकि पहले तो ऐसे प्रयोग कम हैं, दूसरे उनका प्रयोग बड़े सुंदर रूप में हुआ है। इनके वाक्य छोटे होने पर भी संगत और दृढ़ होते थे। उनमें विचारों का निराकरण बड़ा ही स्पष्ट बोधगम्य होता था। इन्हीं का सहारा लेकर गुप्तजी सुंदर चित्रों का मनोहर रूप अंकित करते थे। जैसे—

"शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील छील-

कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगी देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तयार हुई, बम भोला कह शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

"चिंता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनंत है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनंद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्ध रात्रि, चारों ओर घोर अंधकार—वर्षा होती थी बिजली कौंदती थी घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था—वह और कोई नहीं थे यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रजप्यारा हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिंदुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशंभु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार हिंदुओं के लिये तीर्थ हुआ।"

इन अवतरणों से इनकी व्यावहारिकता का पता लग जाता

है। अपने विषय को किस प्रकार गुप्तजी छोटे छोटे परंतु शक्तिशाली वाक्यों में प्रकट करते थे। स्थान स्थान पर एक बात दुहरा दी गई है। इससे भाव-व्यंजना में दृढ़ता और विशेषता आ गई है। "जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।" यहां केवल एक ही वाक्य से अभीष्ट अर्थ की पूर्ति हो सकती थी; पर उस अवस्था मे उसमे इतना बल संचारित न होता जितना वर्तमान रूप मे है। इनकी भाषा का प्रभाव देखकर तो स्पष्ट कहना पड़ता है कि यदि गुप्तजी नाटक लिखते तो भाषा के विचार से अवश्य ही सफल रहते। कथन प्रणाली का ढंग वार्तिक है। इसके अतिरिक्त भाषा भी बड़ी परिमार्जित पाई जाती है। शैली बड़ी ही चलती और व्यावहारिक है। कहीं भी हमे ऊबड़ खाबड़ नहीं मिलता। वाक्यों का उतार चढ़ाव बिलकुल भाव के अनुकूल हुआ है। वास्तव में गुप्तजी की भाषा प्रौढ़ रूप की प्रतिनिधि है। उच्च विचारों का इस प्रकार छोटे छोटे मुहावरेदार वाक्यों मे और इतनी सरलता से व्यक्त करना टेढ़ी खीर है।

गुप्तजी आलोचक भी अच्छे थे। भाषा पर अच्छा अधिकार रहने से उनकी आलोचना में भी चमत्कार रहता था। किस बात को किस ढंग से कहना चाहिए इसका विचार वे सदैव रखते थे। साथ ही कथन-प्रणाली रूखी न हो इस विचार से बीच बीच मे व्यंग्य के साथ वे विनोद की मात्रा भी पूर्ण रूप में रखते थे। इस प्रकार के लेखों मे वे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति भाषा का खिचड़ी रूप ही प्रयोग में लाते थे। क्योंकि वे भी समझते थे कि इस प्रकार उनका

लेख साधारणतः अधिक व्यापक एवं व्यावहारिक हो सकेगा। जैसे—

"सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति संबंधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा, यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए गए थे तथापि वह निडर होकर लिखते रहे और सर्व साधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कवि-वचन-सुधा के कई लेखों को राजद्रोहपूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे। मरसिया नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था, यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर केंपसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर वहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चंद्रजी की चलाई "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" और "बालाबोधिनी" नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रांतीय गवनमेंट लेती थी वह भी बंद हो गई।"

प्रत्येक विषय के इतिहास में एक सामान्य बात दिखाई

पड़ती है, वह यह है कि काल विशेष में उसके भीतर एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब कि अकस्मात् कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनके कारण एक प्रबल परिवर्तन हो जाता है। ये कारण वस्तुतः कुछ दिनों से उपस्थित रहते हैं, परंतु अवसर विशेष पर ही उनसे प्रेरित घटना का विस्फोटन होता है। यही नियम साहित्य के इतिहास में भी घटित होता है। उसमें भी किसी विशेष समय पर कई कारणों के आकस्मिक संघर्ष से विशेष उलट-फेर हो जाता है। हिंदी गद्य के धारावाहिक इतिहास में सन् १९०० ई० वास्तव में इसी प्रकार का समय विशेष था। यों तो लेखन-कला के प्रसार का आरंभ बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, और अब तक कितने ही प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न हो चुके थे जो अपनी रचनाओं की विशेषता की छाप हिंदी साहित्य पर लगा चुके थे; परंतु सन् १९०० में न्यायालयों में हिंदी का प्रवेश, काशी की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सरकार की सहायता से हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और प्रयाग में 'सरस्वती' ऐसी उन्नतिशील पत्रिका का प्रकाशन एक साथ ही आरंभ हुआ। गद्य की व्यापकता का क्रमिक विकास होते देखकर सतर्क लेखकों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भाषा की व्यवस्था आवश्यक है।

अभी तक तो गद्य का प्रकाशन ही प्रकाशन होता रहा। लोगों का विचार यही था कि भाषा का किसी प्रकार स्वरूप स्थिर हो और उसके आवश्यक विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जाय। यही कारण है कि उस समय के प्रधान लेखकों में भी व्याकरण की घोर अवहेलना प्रायः पाई जाती है। गुण-

वाचक 'शांत' को 'शांति' भाववाचक संज्ञा, और 'नाना देश में', 'श्यामताई', 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', '३६ वर्ष में', 'इच्छा किया,' 'आशा किया' आदि प्रयोग भाषा व्याकरण की अवहेलना के स्पष्ट परिचायक हैं। इस प्रकार की त्रुटियाँ कुछ तो प्रमादवश हुई हैं और कुछ व्याकरण की अज्ञानता-वश। इसके अतिरिक्त विरामादिक चिह्नों के प्रयोग के विषय में भी इस समय के लेखक विचारहीन थे। प्रत्येक लंबे वाक्य के वाक्यांशों के बीच कुछ चिह्नों की आवश्यकता अवश्य पड़ती है, क्योंकि इनकी सहायता से हमें यह शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि एक वाक्यांश का संबंध दूसरे वाक्यांश के साथ किस प्रकार का है और उसका साधारण स्थान क्या है। इन चिह्नों के अभाव में सदैव इस बात की आशंका बनी रहेगी कि वाक्य का वस्तुत: अभीष्ट अर्थ क्या है। साथ ही ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं कि उनका साधारण अर्थ ही समझना कठिन हो जाय। यदि व्याकरण के इस अंग पर ध्यान दिया जाता तो संभव है कि पंडित प्रतापनारायण मिश्र की शैली अधिक व्यवस्थित तथा स्पष्ट होती। मिश्रजी इन चिह्नों का केवल कहीं कहीं प्रयोग करते थे। इन चिह्नों के सामान्य संस्थान एवं व्यवहार के अभाव के कारण उनकी भाषा-शैली की व्यावहारिकता एवं बोधगम्यता नष्ट हो गई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

गद्य के इस वर्तमान काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान बड़े महत्व का है। पूर्व काल में भाषा की जो साधारण शिथिलता थी अथवा व्याकरण-संबंधी जो निर्बलता थी उसका परिहार द्विवेदीजी के मत्थे पड़ा। अभी तक जो जैसा चाहता था,

लिखता रहा। कोई उसकी आलोचना करनेवाला न था। अतएव इन लेखकों की दृष्टि भी अपनी त्रुटियों की ओर नहीं गई थी। द्विवेदीजी ऐसे सतर्क लेखक इसकी अवहेलना न कर सके, अतएव इन्होंने उन लेखकों की रचना-शैली की आलोचना आरंभ की जो कि व्याकरणगत दोषों का विचार अपनी रचनाओं में नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग सँभलने लगे और लेखादि विचारपूर्वक लिखे जाने लगे। उन साधारण दुर्बलताओं का क्रमशः नाश होने लगा जिनका कि हरिश्चंद्र काल मे प्रावल्य था। सतर्क होकर लिखने से विरामादिक चिह्नों का प्रयोग व्यवस्थित रूप में होने लगा, साधारणतः लेख सुस्पष्ट और शुद्ध होने लगे। इसके अतिरिक्त इन्होंने गद्य-शैली के विकास के विचार से भी स्तुत्य कार्य किया। इस समय तक विशेष विशेष विषयों की शैलियाँ निश्चित नहीं हुई थीं। यों तो भाषा भाव के अनुकूल स्वभावतः हुआ ही करती है, परंतु आदर्श के लिये निश्चित स्वरूप उपस्थित करना आवश्यक होता है। यह कार्य द्विवेदीजी ने किया।

भाषा की विशुद्धता के विचार से द्विवेदीजी उदार विचार के कहे जायँगे। अपने भाव-प्रकाशन में यदि केवल दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही विशेष बल के आने की संभावना हो तो उचित है कि वे शब्द अवश्य व्यवहार में लाए जायँ। द्विवेदीजी साधारणतः हिंदी, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों को व्यवहार में लाते हैं। परंतु ऐसा वे स्थान स्थान पर उपयुक्तता के विचार से करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका शब्द-चयन बड़ा शक्तिशाली और व्यवस्थित होता है। प्रत्येक शब्द शुद्ध रूप में लिखा जाता है, और

ठीक उसी अर्थ में जो अर्थ अपेक्षित रहता है। इनकी वाक्य-रचना भी विशुद्ध होती है। उसमें कहीं भी उर्दू ढंग का विन्यास न मिलेगा। शब्दों के अच्छे उपयोग और गठन से सभी वाक्य दृढ़ एवं भावप्रदर्शन में स्पष्ट होते हैं। छोटे छोटे वाक्यों में कांति तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की सम्यक् अभिव्यंजना करना द्विवेदीजी के बाएँ हाथ का खेल है। इनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती है जिससे भाषा में वही बल पाया जाता है जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता है। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते हैं कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा; और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभिप्रेत है।

द्विवेदीजी के पूर्व के लेखकों को जब हम वाक्य-रचना एवं व्याकरण में अपरिपक्व पाते हैं तब उनमें वाक्य-सामंजस्य खोजना अथवा वाक्य-समूह का विभाजन तथा विन्यास देखना व्यर्थ ही है। एक विषय की विवेचना करते हुए उसके किसी अंग का विधान कुछ वाक्य-समूहों में और उस अंग के किसी एक अंश का विधान एक स्वतंत्र वाक्य-समूह में सम्यक् रूप से करना तथा इस विवेचन-परंपरा का दूसरे वाक्य-समूह की विवेचन-परंपरा के साथ सामंजस्य स्थापित करना द्विवेदीजी ने प्रारंभ किया। इस विचार से इनकी भाषा में सामंजस्य का सुंदर प्रसार पाया जाता है। उसमें अनोखापन और चमत्कार आ गया है। इसी के साथ

हम यह भी देखते हैं कि इनकी रचना में स्थान स्थान पर एक ही बात भिन्न भिन्न शब्दों में बार बार कही गई है। इससे भाव तो स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है पर कभी कभी एक प्रकार की विरक्ति सी होने लगती है। साधारणतः देखने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि द्विवेदीजी ने आधुनिक गद्य-रचना को एक स्थिर रूप दिया है। इन्होंने उसका संस्कार किया; उसे व्याकरण और भाषा संबंधी भूलों से निवृत्त कर विशुद्ध किया और मुहावरों का चलती भाषा में सुंदरता से उपयोग कर उसमें बल का संचार किया। सारांश यह कि इन्होंने भाषा-शैली को एक नवीन रूप देने की पूर्ण चेष्टा की। उसको परिमार्जित, विशुद्ध एवं चमत्कारपूर्ण बनाकर भी व्यवहार-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने दिया।

भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार होते हैं—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। इन तीनों प्रकारों के लिये द्विवेदीजी ने तीन भिन्न भिन्न शैलियों का विधान रखा। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार की शैलियाँ इनके पूर्व प्रयुक्त ही नहीं हुई थीं, वरन् विचार यह है कि उनको निश्चयात्मक रूप अथवा स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। इन तीनों शैलियों की भाषा भी भिन्न प्रकार की है। भाव के साथ साथ उसमें भी अंतर उपस्थित हुआ है। यह स्वाभाविक भी है। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक है। जिस भाषा में कुछ पढ़ी लिखी, अँगरेजी का थोड़ा बहुत ज्ञान रखनेवाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली में किया गया है। इसमें उछल कूद, वाक्य-सरलता, एवं लघुता के साथ साथ भाव-व्यंजन

की प्रणाली भी सरल पाई जाती है। भाषा इसकी मानो चिकोटी काटती चलती है। इसमें एक प्रकार का मसखरा-पन कूट कूटकर भरा रहता है। व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता है।

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और ख़ुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख़्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपए तीन चार पंसेरी का भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपए का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंसपेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। फ़जूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन एक हज़ार पर बेंच दी गई।"

इस वाक्य-समूह के शब्द शब्द में व्यंग्य की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचय में भी कुशलता है; क्योंकि उनका यहाँ बल विशेष है। इसके उपरांत जब हम उनकी उस शैली के स्वरूप पर विचार करते हैं जिसका उपयोग उन्होंने

प्राय: अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में किया है तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गंभीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकालकर उन्होंने एक सर्वांग नवीन रूप का निर्माण कर लिया है। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है परंतु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण उसमें गांभीर्य और ओज झलकता है। जैसे—

"इसी से किसी किसी का ख़याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख़याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ़ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल संस्कृत जाननेवाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से ज़ियादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फ़ारसी भाषा और सभ्यता की छाप पड़ गई है वे, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फ़ारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिंदुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश

करना है। अँगरेज़ी में हज़ारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।"

अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की शैली यही है। उनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परंतु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का स्थिरता-पूर्वक प्रतिपादन हुआ है; अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्समता निकाल देते हैं और विशुद्ध हिंदी का रूप उपस्थित करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली दिखाई पड़ती है। यों तो भाव के अनुसार भाव-व्यंजना में भी दुरूहता आ ही जाती है, परंतु द्विवेदीजी की लेखन-कुशलता एवं भावों का स्पष्टीकरण एकदम स्वच्छ तथा बोधगम्य होने के कारण सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं। यों तो इस शैली में भी दो एक उर्दू के शब्द आ ही जाते हैं पर वे नहीं के बराबर हैं। इसकी भाषा और रचना-प्रणाली ही चिल्लाकर कहती है कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हो रहा है। परंतु द्विवेदीजी की साधारण शैली के अनुसार यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है। जैसे—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का

मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसी लिये प्रतिभावान् पुरुषों में कभी कभी विक्षिप्तता के कोई कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नए नए मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता। प्रतिभाशाली कवियों के विषय में किसी ने सत्य कहा है—

लीक लीक गाड़ी चलै लीकहि चलै कपूत।
बिना लीक के तीन हैं शायर, सिंह, सपूत॥

जिनकी समझ और जिनकी प्रज्ञा साधारण है, वे सीधे मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते; विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान् ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं। इसी से विक्षिप्तता और प्रतिभा में समता पाई जाती है।"

अंबिकादत्त व्यास

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जितना हिंदी गद्य का विकास हो चुका था उसको देखने से यह स्पष्ट होता है कि साधारणतः भाषा में लचरपन नहीं रह गया था। उसमें प्रौढ़ता आ गई थी। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास ऐसे लेखक, अपवाद-स्वरूप, इस समय भी भाषा की प्राचीनता का आभास दे रहे थे। व्यासजी की भाषा में जो चलतापन और सारल्य था वह बड़ा आकर्षक था। वक्तृता की भाषा में जो एक प्रकार का बल विशेष पाया

जाता है वह उसमें अधिकांश रूप में मिलता है। स्थान स्थान पर एक ही बात को वे पुनः इस प्रकार और इस विचार से दोहरा देते थे कि उसमें कुछ विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। यह सब होते हुए भी उनमें त्रुटियाँ अधिक थीं, जो वस्तुतः भाषा की उस उन्नत अवस्था के मेल में न थीं जो उनके समय तक उपस्थित हो चुकी थी। वे अभी तक 'इनने', 'उनने', 'के' (कर), 'सो' (अतः अथवा वह), 'रहैं', 'चाहैं', 'बेर' इत्यादि का ही प्रयोग करते थे। 'तो' और 'भारी' की ऐसी अव्यवस्थित भरमार इन्होंने की है कि भाषा में गवाँरूपन और शिथिलता आ गई है। विरामादिक चिह्नों का भी व्यवहार वे उचित स्थान पर नहीं करते थे। "भगवान के शरण," "सूचना करने (देने) वाली", "दर्शन किए" भी लिखते थे। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर विभक्तियों के भद्दे अथवा अव्यवहार्य प्रयोग प्रायः मिलते हैं। जैसे—'उसी को दिवाली अन्नकूट होता है' (उसी के लिये दिवाली में अन्नकूट होता है)। इतना ही नहीं, कहीं कहीं विभक्तियों को छोड़ भी जाते थे; जैसे—'उसी नाम ले' (उसी का नाम लेकर) इत्यादि। यह सब विचारकर यही कहा जा सकता है कि इनकी भाषा बड़ी भ्रामक हुई है। भ्रामक इस विचार से कि अपने समय का यह स्पष्ट बोध नहीं करा सकती। उसको पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि यह उस समय की भाषा है जिस समय गद्य में प्रौढ़ता उत्पन्न हो चली थी। उनकी भाषा का छोटा सा अवतरण उपस्थित किया जाता है।

[क्रमशः

साहित्य परिषद्

इस वर्ष साहित्य परिषद् का अधिवेशन सभाभवन में १०
और ११ [illegible]
को होगा